गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह



गोरखनाथ - मन्दिर

गोरखपुर



ॐ नमो भगवते गोरक्षनाथाय

गोरक्ष-स्तवन

ब्रह्मणां च परं ब्रह्म रुद्रादीनां शिरोमणिः ।
त्रैलोक्यं निर्मितं येन श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ।।
सर्वगुणो गुणाभावो निर्गुणश्च गुणस्थितः ।
साकारो वा निराकारः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ।।
स्वः पूजयन्ति देवास्तं मर्त्यलोके च मानवाः
पाताले नागलोकाश्च श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ।।
एकाकी वर्तते नित्यं भवपाशविवर्जितः ।
परं ब्रह्माक्षयं ज्योतिः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ।।

श्रीगोरक्ष (हे गोरखनाथजी) ! जो अनेकों ब्रह्माओं के भी परब्रह्म और रुद्रादिकों के (शिवगोरक्षस्वरूप) शिरोमणि हैं तथा जिन्होंने तीनों लोकों का सृजन किया है, उन आप को प्रणाम है। श्रीगोरक्ष ! आप समस्त गुणों के आश्रय अथवा गुणातीत और निर्गुण अथवा सगुण-साकार सब कुछ हैं, आप को नमस्कार है। श्रीगोरक्ष ! स्वर्ग-लोक में देवता, मृत्युलोक में मनुष्य और पाताल में नागगण आप की पूजा करते हैं, आप को नमस्कार है। श्रीगोरक्ष ! आप सांसारिक द्वन्द्वों के बन्धन से नितान्त मुक्त होकर नित्य परमात्मस्वरूप में स्थित हैं, अक्षय ज्योतिः-स्वरूप परब्रह्म हैं, आप को नमस्कार है।

[योगेश्वर श्रीकृष्णः 'राजगुह्य']



अलख निरञ्जन

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह

सम्पादक
रामलाल श्रीवास्तव

गोरखनाथ - मन्दिर
गोरखपुर
सं० २०३९ वि०

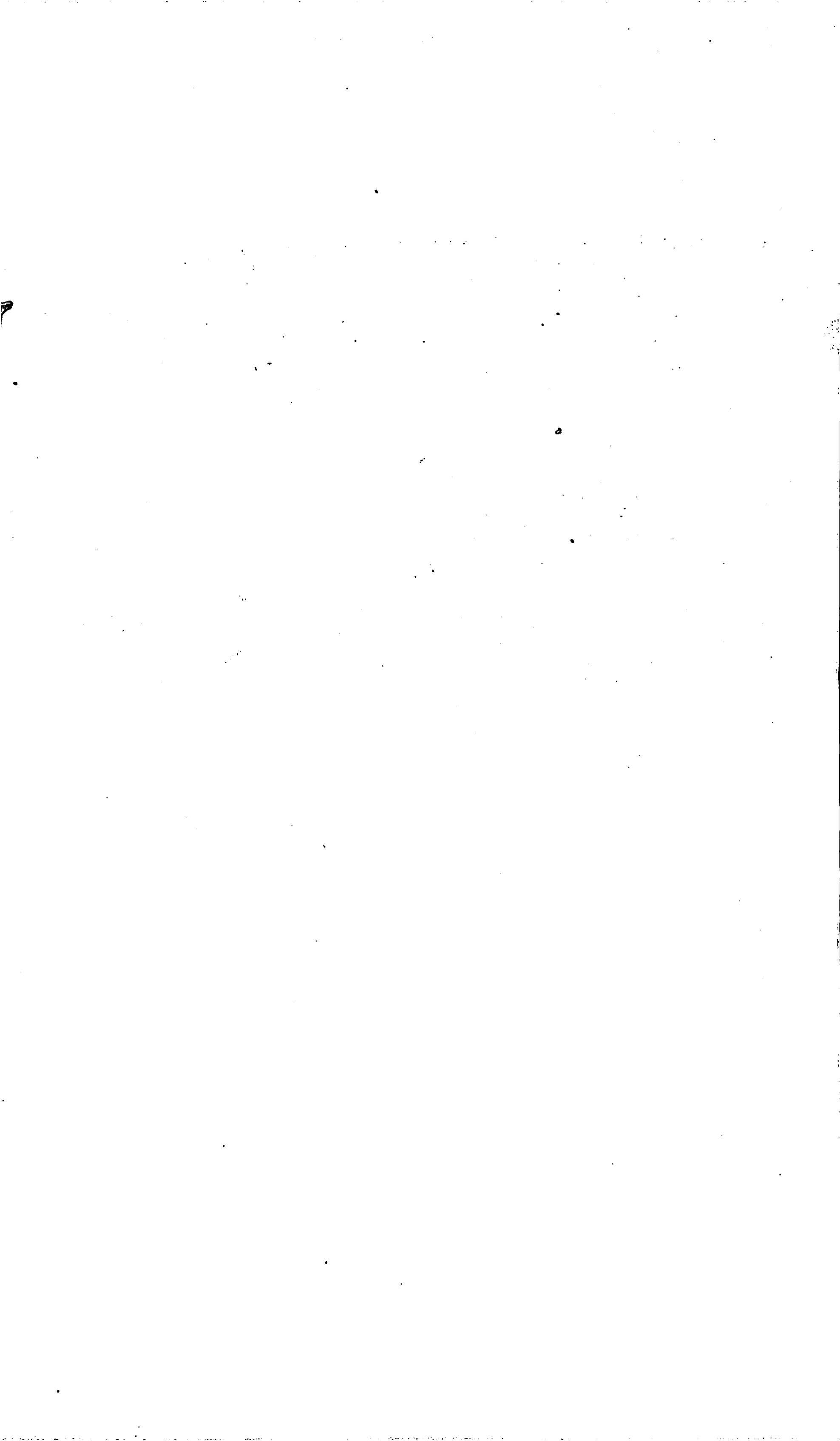
प्रकाशक :
श्रीगोरखनाथ - मन्दिर
गोरखपुर

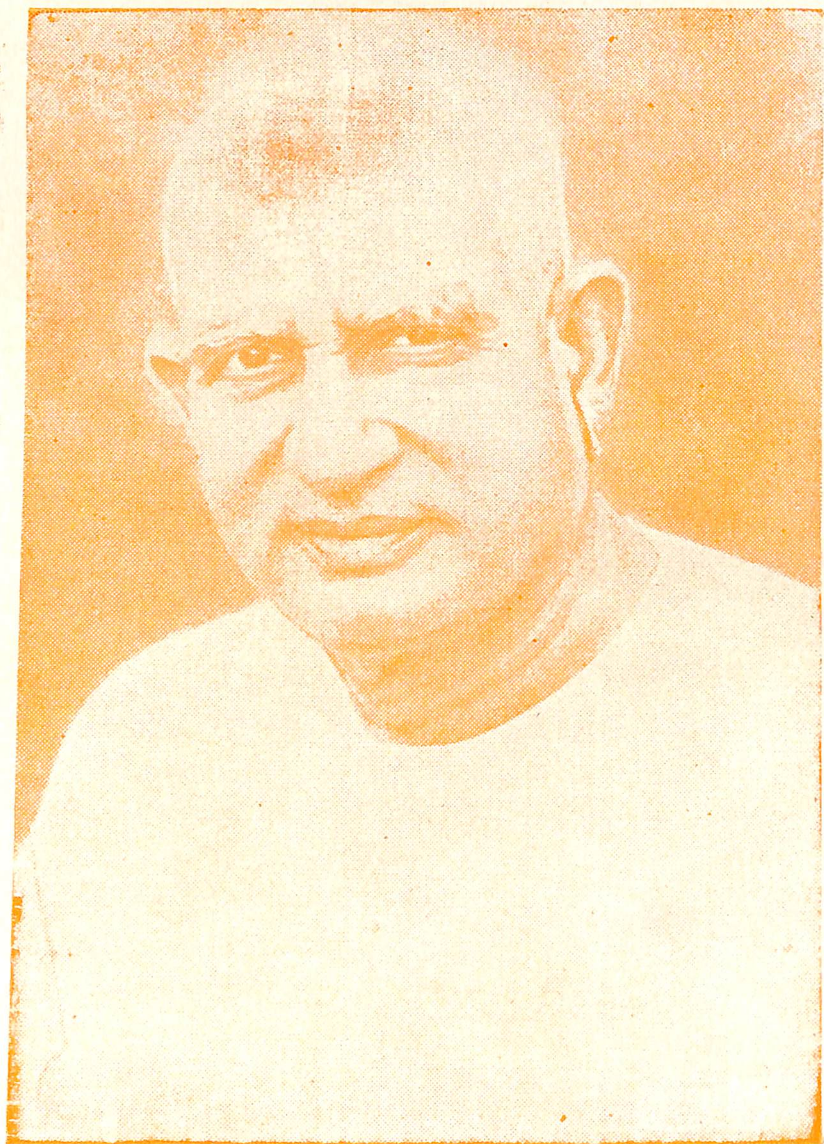
पहला संस्करण
केवल २००० प्रतियाँ
सं० २०३६ वि०

मूल्य १० रुपये

प्राप्ति-स्थान :
गोरखनाथ - मन्दिर
गोरखपुर

मुद्रक :
दी इउरेका प्रिंटिंग वर्क्स (प्रा०) लि०
गीताप्रेस रोड, गोरखपुर





योगिराज बाबा दिग्विजयनाथ

नित्य योगस्थ बाबा दिग्विजयनाथ को

समर्पण

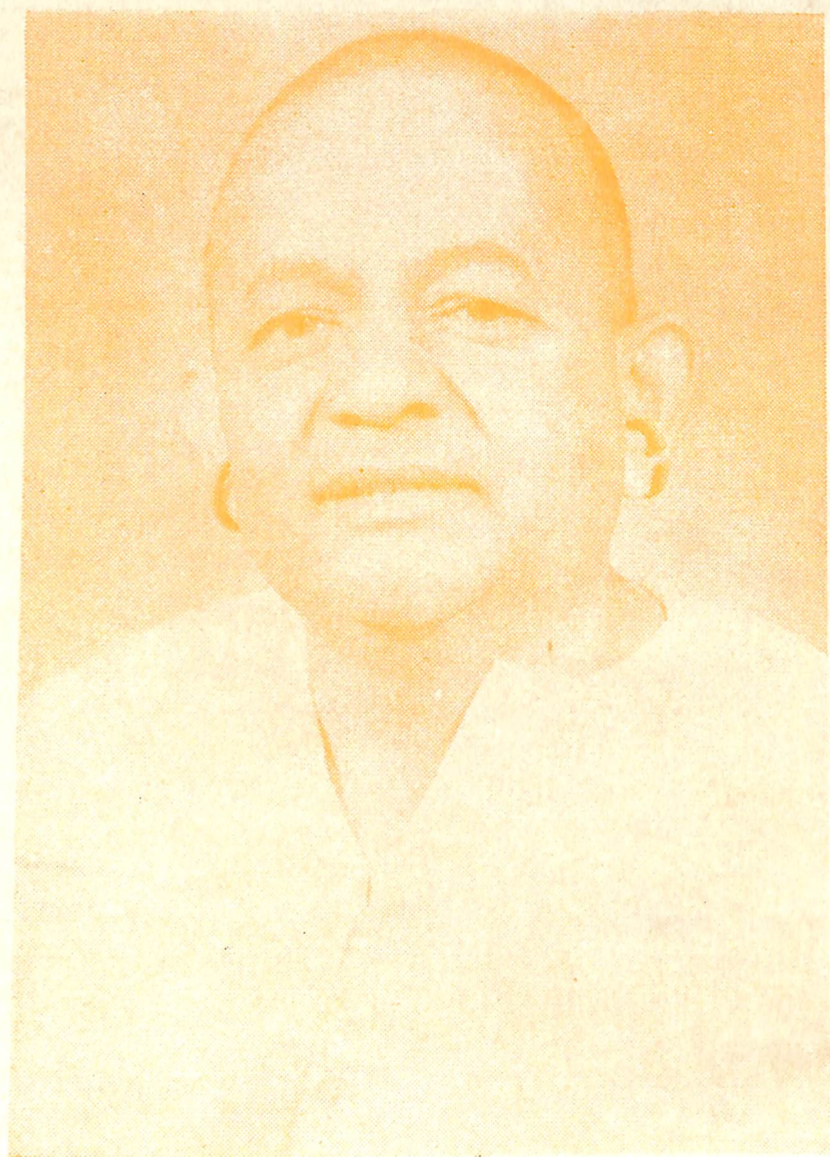
शिवगोरक्षस्वरूप परम श्रद्धास्पद गुरुदेव ! आप की दसवीं पुण्य-तिथि के महोत्सव पर अपने चिर अभिलषित संकल्प के पूर्तिस्वरूप मैं विनम्रतम प्रणतिपूर्वक सिद्धमत—भगवान् आदिनाथ शिवप्रवर्तित सिद्धामृत मार्ग का अप्रतिम ग्रन्थरत्न 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' आपके प्रीत्यर्थ श्रद्धाञ्जलिरूप में समर्पित करता हूँ । हे योगिराज ! अपने इस अकिञ्चन शिष्य की गुरुदक्षिणा स्वीकार कीजिये ।

गोरखनाथ-मन्दिर
गोरखपुर
आश्विन कृ० ३, सं० २०३६ वि०

महन्त अवेद्यनाथ
(गोरक्षपीठाधीश्वर)

अनुक्रम





गोरक्षपीठाधीश्वर अवेद्यनाथ

श्रीगोरक्षसिद्धान्त की सदुपयोगिता

शिवगोरक्ष महायोगेश्वर भगवान् गोरक्षनाथजी के योग और तद्गत सिद्धान्त का मर्म उनके अनुग्रह से ही किसी भाग्यशाली के अनुभव में अभिव्यक्त होता है तो हो जाता है। उन महाकारुणिक योगाचार्यचरण ने स्वरूप में अवस्थिति को ही द्वैताद्वैतविवर्जित परब्रह्मस्वरूप अलखनिरंजन का साक्षात्कार कहा। उनकी 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' रचना इस विलक्षण योग-मर्म का सत्यापन करती है। यह स्वरूपावस्थिति ही हमारे सिद्धमत में—नाथपंथ में परमपद के रूप में अभिहित है। गोरखनाथजी ने अपने योगसिद्धान्त-विवेचन में कहा है कि इस देह-पिण्ड में सर्वत्र एकरस और व्यापक रूपसे विद्यमान शुद्ध निरंजन ज्योतिःस्वरूप परब्रह्मकी अभिव्यक्ति होती है, योग-पद्धति द्वारा समाधि-सिद्धि होने पर उसका साक्षात्कार होता है। भगवान् गोरखनाथ के समस्त योगविधान की सार्थकता का प्राण उनका यह कथन–'पिण्डे सर्वगतं विधानममलं सिद्धान्तसारं वरम्' (सि० सि० प० ६।९३) ही है। हमारे सिद्धामृत मार्ग अथवा नाथयोग का यही चरम प्रतिपाद्य उत्कृष्ट सिद्धान्त है।

प्राणिमात्र पर अहेतुकी कृपा करने के लिये, उन्हें कायिक, वाचिक और मानसिक अन्धकार से बाहर निकाल कर परमात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित कर भवसागर से पार उतारने के लिये गुरु गोरखनाथजी ने शाश्वत, सनातन प्राण-संजीवनी के रूप में महाज्ञानस्वरूप योगामृत का प्रकाशन किया। उनकी योगबीज, सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति, महार्थमंजरी, गोरक्षसंहिता, विवेकमार्तण्ड, योगमार्तण्ड तथा भाषा में उपलब्ध प्रचुर 'गोरखबानी'–वाङ्मय के द्वारा उनके योगसिद्धान्त का निर्मल प्रतिपादन सहज सुलभ है। अण्डपिण्डगत समस्त ब्रह्माण्डपरिव्याप्ति के स्तर पर शिवपद–परमपद में सामरस्य का स्थापन ही नाथयोग का सनातन अमृतस्रोत है, जो अनन्त है, अकाल है, अनादि है, अस्ति-नास्ति, दोनों अवस्थाओं से विलक्षण है।

हमारे नाथयोग के सिद्धान्त-विवेचन से यह सत्य परिलक्षित होता है कि संसार में अनादि-काल से योग-भोग, दो ही मार्ग मान्य और प्रचलित हैं। स्पष्ट है कि भोग बन्धन है, योग उस बन्धन से मोक्ष-स्वरूपस्थिति है। योग, विशेषता से नाथयोग, भगवान् मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा गोरखनाथजी को उपदिष्ट

महायोगज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है, परमोत्तम स्वसंवेद्य-स्वरूपज्ञान है। नाथयोग के आचरण से, अनुभवपरक आचार से, योगसिद्ध पुरुष स्वरूपानन्द का अनुभव करता है, यही नाथयोग का अभीष्टतम सिद्धान्त है। 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' ग्रन्थ के अध्ययन से पता चलता है कि सिद्धमत—नाथपंथ का तात्पर्य ही सिद्धान्त है। वादी-प्रतिवादी द्वारा निर्णीत तत्वार्थ सिद्धान्त हो ही नहीं सकता है, उसे शास्त्रार्थ मात्र कहा जा सकता है, शास्त्रार्थ योगसिद्धान्त का पर्याय नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि भगवान् योगिराजेश्वर गोरखनाथ की दृष्टि में सिद्धों का तात्पर्य ही सिद्धान्त है। 'अद्वैतोपरि सदानन्द देवता' की अपरोक्षानुभूति ही नाथयोग का सिद्धान्त है, यही द्वैताद्वैतविवर्जित-समस्त संकल्पातीत सत्यपद की प्रतिष्ठा है। यही नाथ-योगदर्शन का गुह्यतम मर्म है। दर्शन का अभिप्राय तत्वविवेचन नहीं, आत्मा द्वारा अपने अभिन्न स्वरूप का, परमात्मा का साक्षात्कार है। गोरखनाथजी ने अपने योगसिद्धान्त की समीक्षा की है:—

लेषै लिषी न कागद माडी सो पत्री हम बाची॥

(गो० बा० सबदी २६४)

गोरखनाथजी ने अपनी महार्थमंजरी रचना में अपने योगसिद्धान्त का स्वरूप स्पष्ट किया है कि यह संसार के भय का हरण करता है, सुख-दुःख दोनों की निवृत्ति कर मुक्ति प्रदान करता है, यह स्वरूपदान-मोक्ष का नित्य सोपान है, गुह्य से भी गुह्यतर और गुह्यतम है।

भवभयहरं नृणां मुक्तिसोपानसंज्ञकम्।
गुह्याद्गुह्यतरंगुह्यं गोरक्षेण प्रकाशितम्॥

(महार्थमंजरी ८२)

भगवान् गोरक्षनाथजी के योगसिद्धान्त के सुदीर्घकाल से सत्कारपूर्वक सेवन-आचरण और अनुभव का क्रम अनवरत अविच्छिन्न है और अनन्तकाल तक यह परम्परा प्राणमयी रहेगी। उनके सिद्धसिद्धान्तपद्धति ग्रन्थ का संक्षिप्त रूपान्तर 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' के रूप में प्रस्तुत करनेवाले बलभद्रजीने उनकी प्रशस्ति में कृतज्ञता प्रकट की है कि जिनके कृपामय दृष्टिपात से चित्त शान्त और विषयों में अनासक्त हो जाता है, उन करुणासुधारसनिधि गुरु (गोरखनाथ) में मेरा मन निमग्न हो जाय।

यत्कारुण्यविलोकनादपि भवेच्चिद्विश्रमः पारदः।
तस्मिन् श्रीकरुणासुधारसनिधौचेतोऽस्तुमग्नं गुरौ॥

(सि० स० सं० ५।३६)

भगवान् गोरखनाथके योग-विधान में अव्यक्त, अक्षर, शून्य, निरंजन पद की परमानुभूति है। यही गीता (८।२१) द्वारा प्रतिपादित परमगति की नाथयोग से युक्तियुक्त संगति है। यह परमानुभूति स्वगत योगाभ्यास, तन, मन, प्राण के संशोधन, कुण्डलिनी-जागरण, षट्चक्रभेदन, सहस्रार से प्रवाहित अमृतपान, नादानुसन्धान से सहजसिद्ध शून्यस्वरूप में अवस्थिति में सन्निहित है। यह सिद्धसिद्धान्त के अनुरूप परमात्मस्वरूप परमपद है।

अपरम्पारं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति।

(सि० सि० प० १।१७)

सिद्धसिद्धान्त में आदिनाथ साक्षात् भगवान् शिव की स्वीकृति है कि न तो योग से श्रेष्ठ कोई पुण्य है, आचरण है, न कोई सुख है, योग से श्रेष्ठ न तो कोई सूक्ष्मज्ञान ही है। यही साधना का अन्यतम मार्ग है, जो सिद्धमत का अथवा नाथयोग का आधार है। इसी सिद्धान्त के प्रकाश में योगसाधना के द्वारा सर्वभावपदातीत ज्ञानरूप निरंजन का अनुभव होता है। हमारे आचार्य गोरखनाथजी ने योगबीज में इस योगमर्म का पोषण किया है:—

योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं सुखम्।
योगात्परतरं सूक्ष्मं योगमार्गात्परं न हि॥

(योगबीज ८७)

इसी योगपुण्य से सिद्धों का सान्निध्य प्राप्त होता है। उन योगसिद्ध अवधूतों के चरणसेवन से नाथस्वरूप की प्राप्ति होती है। साधना-भेद से इस नाथस्वरूप में शिवशक्ति (चिद्रूपाशक्ति), दोनों का ही अभिन्नत्व प्रतिपादित होता है। जिस तरह चन्द्र और चन्द्रिका में भिन्नता नहीं है, पिण्ड-समुदाय चन्द्रमा है, विरल प्रकाश चाँदनी है, पिण्डत्व और विरलत्व से ही भेद दीखता है, हैं दोनों अभेद ही। यह अभेदता ही परमपद का आधारस्तम्भ है।

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेराभ्यन्तरः शिवः।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

(सि० सि० प० ४।२६)

इस अभेदता का मर्म गुरु से ही समझा जाता है। उसके सान्निध्य से शरीर चिदानन्दात्मक हो जाता है, वह स्वानन्दविग्रह है। भगवान् गोरखनाथ ने गुरुपद की वन्दना में कहा है:—

यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः।

(गोरक्षशतक १)

अपने सिद्धान्त-समरसीकरण (पिण्ड में ब्रह्माण्ड के अपरोक्षदर्शन) का आधार गोरखनाथजी ने गुरुके कृपाकटाक्षपात में अभिव्यक्त किया है। उनका कथन है:—

तस्माद् गुरुकृपाकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतया स्वकीयं पिण्डं निरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियत इति सिद्धान्तः

(सि०।सि० प० ५।७)

गुरु के कृपा-कटाक्ष से मन, इन्द्रियों आदिके संयमपूर्वक अपने पिण्डका परपिण्ड के साथ सामरस्य स्थापित कर सच्चिदानन्द अलख परब्रह्म का योगी रसास्वादन करता है।

'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' के प्रणेता ने योगिराजेश्वर गोरखनाथ के सिद्ध-सिद्धान्त का—योगविज्ञान के तत्त्व का अनेक सच्छास्त्रों के प्रकाश में प्रतिपादन कर उनके द्वारा प्रकटित अवधूत के स्वरूप, नाथस्वरूप, योगी और योगमार्ग की श्रेष्ठता, समस्त दर्शनों में स्वरूपदर्शन, नाथयोगसिद्धान्त के महत्त्व, नाथतत्त्व की सर्वोपरिता आदिका सुचारुरूप से विवेचन किया है। शिवगोरक्ष द्वारा प्रतिपादित योग-सिद्धान्त को समझने के लिये 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' ग्रन्थ अद्भुत वाङ्मय है, जिसे नाथयोग का विश्वकोष अथवा ज्ञानकोष कहा जाय तो रंचमात्र भी आपत्ति के लिये अवकाश नहीं है। 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' ग्रन्थ के हिन्दी भाषान्तरसहित प्रकाशन की हमारी उत्कट इच्छा थी। यद्यपि इस ग्रन्थरत्न का संस्कृत के विद्वान् पण्डित रामाधार शुक्ल द्वारा हिन्दी अनुवाद भी सम्पन्न कराया गया तथापि अत्यन्त परिश्रमपूर्वक मूलपाठ का शुद्ध-से-शुद्ध स्वरूप सुरक्षित रखते हुए हिन्दी रूपान्तर के परिमार्जन और भावस्पष्टीकरण तथा सम्पादन में हमारे मन्दिर से प्रकाशित होने-वाले' 'योगवाणी' मासिक के सम्पादक रामलाल श्रीवास्तव ने हमारे शुभ संकल्प की पूर्ति में जो असाधारण योगदान दिया, उसके लिये हम उन्हें अपना स्नेह और अनुग्रहपूर्ण हार्दिक आशीर्वाद देते हैं।

'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' शिवगोरक्ष की दिव्य विभूति है। हम उसके मांगलिक प्रस्तुतीकरण में भक्तों के अनुग्रहार्थ चित्तरूप मूर्तिमान् गणेश का स्मरण करते हैं, गोरखनाथजी की 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' रचना के समापन (सि० सि० पं० ६। ११५) के अनुरूप ही हमारा स्मरण लोककल्याण करे।

विद्धात्वर्थनिचयं भक्तानुग्रहमूर्तिमत्।
स्मरानन्दभरं चेतो गणपत्यभिधं महः।

गोरखनाथ मन्दिर
गोरखपुर।
आश्विन कृष्ण ३, २०३६ वि०

महन्त अवेद्यनाथ
(गोरक्षपीठाधीश्वर)

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह

'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' ग्रन्थ सिद्धमत, नाथयोग और नाथपंथ—नाथसम्प्रदाय के सिद्धान्तों का परिचायक अद्भुत योगवाङ्मय है, जिसमें योग के—विशेषता से नाथयोग के दार्शनिक पक्ष का असाधारण और सच्छास्त्र-सम्मत विवेचन उपलब्ध होता है। इसमें अमरत्व की—योगसिद्धदेह की प्राप्ति की दिशा में—जीवन्मुक्ति और सामरस्य-विधान से अलख निरंजन परब्रह्म शिव के साक्षात्कार की साधना के सम्बन्ध में योगपरक आचरण और व्यवहार का पोषण किया गया है। यह कृति योगविचारधारा की दार्शनिकता का प्रतिपादन करती है। यह नाथयोग और सिद्धसिद्धान्त अथवा परमकारुणिक योगीश्वर गुरुगोरखनाथ के योगसिद्धान्त का विश्वकोष है। इसके अध्ययन मात्र से निःसंदेह प्राणी जरा-मरण, दुःख और क्लेश आदि के बन्धन से छुटकारा पाने की सहज साधन-प्रक्रिया की प्राप्ति करता है। यह ग्रन्थ योगसिद्ध अवधूत के सिद्धान्त की सर्वोपरिता के परिप्रेक्ष्य में योगदर्शन के सार्वभौमत्व का प्रकाशन करता है। इसमें गोरक्षसिद्धान्त—'अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तः स एव हि' (योगबीज) की परिपुष्टि की गयी है। अलखनिरंजन परब्रह्म परमेश्वर, कुलाकुल से विवर्जित शुद्ध स्वरूपस्थ परम शिव—नाथस्वरूप में स्थित परमात्मा ही गोरक्षसिद्धान्त का प्राणाधार है। भगवान् शिवगोरक्ष की स्वीकृति है :

उदै न अस्त रात न दिन, सरबे चराचर भाव न भिन्न।
सोई निरंजन डाल न मूल, सर्वव्यापीक सुषम न अस्थूल॥
(गोरखबानी सबदी-११)

परमात्मसम्बन्धी स्वरूप—स्वसंवेद्य, द्वैताद्वैतविवर्जित निरंजन ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर ही "गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह" ग्रन्थ का परम-चरम लक्ष्य अथवा प्रतिपाद्य है।

गोरखनाथजी ने अपने सिद्धमत के परिप्रेक्ष्य में योगसाधना को मुक्ति का सोपान कहा है, योगी मन को भोगों के बन्धन से बाहर निकाल कर उसकी महती शक्ति से कालवंचन-मृत्युविजय कर अमर हो जाता है, वह सिद्धदेह में स्वस्थ

होकर समस्त ब्रह्माण्ड में अपने दिव्य शरीर से अभिव्यक्त होता रहता है, विचरण करता है।

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत् कालस्य वञ्चनम्।
यद्व्यावृत्तं मनोयोगादासक्तं परमात्मनि ॥
द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम्।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः ॥
(गोरक्षसंहिता १।४–५)

गोरखनाथजी ने कहा है कि बड़े-बड़े विद्वान् ऋषि वेदज्ञान में निष्णात होकर उसके तीनों काण्डरूपी शाखाओं में विश्राम करते हैं, वेदकल्पतरु का अमृतफल योग है, श्रेष्ठ पुरुषों को इसका सेवन कर संसार-सागर से पार उतर जाना चाहिए। हरिपद-प्राप्ति का मार्ग गुरु के ज्ञान से प्राप्त होता है, जीवात्मा अलखनिरंजन, अकल कलातीत ब्रह्म के प्रकाश में सहज अविनाशी परम पद में प्रतिष्ठित हो जाता है। योगसिद्ध योगिराज भर्तृहरि की सबदी है—

गुरु सूं ग्यान ग्यांन सूं बुधि भई, बुधि सूं अकल प्रकाशी।
भनंत भरथरी हरिपद परस्या, सहज भया अविनाशी ॥
(नाथसिद्धों की बानियाँ ६७९)

"गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह" में सिद्धों के तात्पर्य—सिद्धसिद्धान्त, नाथसिद्धान्त किंवा गोरक्षसिद्धान्त का सांगोपांग निदर्शन सहज सुलभ है। 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' कृति की प्रस्तुति कर पुण्यात्मा संग्राहक—रचयिता ने महती कीर्ति अर्जित की। यद्यपि इस बात का पता लगाना कठिन है कि किस भाग्यशाली ने इस महनीय कृति का लोकमानस को समर्पण किया तथापि यह नितान्त असंदिग्ध है कि उसने भारतीय परम्परा के परिप्रेक्ष्य में अपना नाम अज्ञात रखना ही श्रेयस्कर समझा। वह वेद, वेदांग, उपनिषदों, षट्दर्शनों और तंत्रशास्त्र तथा योगशास्त्र का महान् बहुश्रुत मर्मज्ञ था और ग्रन्थ की प्रस्तुति में उसने जिस क्षमता और निष्पक्षता का परिचय दिया है, वह उसकी निःस्वार्थ, निष्काम आध्यात्मिक अथवा पारमार्थिक प्रवृत्ति का द्योतन करती है। 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला (वाराणसी) के तत्वावधान में महामहोपाध्याय, तंत्रयोगमर्मज्ञ, लोकमनीषी गोपीनाथ कविराज के सम्पादन में सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ। केवल मूलमात्र ही ग्रन्थ की विषय-सामग्री के रूप में प्रस्तुत हुआ। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी द्वारा पं० जनार्दन शास्त्री के सम्पादन में इस ग्रन्थरत्न

का परिवर्धित–संशोधित द्वितीय संस्करण के रूप में सं० २०३० वि० में पुनर्मुद्रण सम्पन्न हुआ। 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह'' ऐतिहासिक, धार्मिक और दार्शनिक धरातल पर योगसाधना के क्षेत्र में अत्यन्त अमूल्य और महत्वपूर्ण देन है। यह निर्विवाद है कि तांत्रिक साधना–पद्धति बहिरंग साधना में परिगणित है, पर योगसाधना पातंजल योग में ही नहीं, नाथयोग में भी विशेषता से अन्तरंग साधना के रूप में सम्मानित है और बहुश्रुत 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह'–प्रणेता ने साधना के इसी अंतरंग पक्ष का आचार–विचार से दार्शनिक समन्वय प्रस्तुत किया है। गोरक्षनाथ कृत प्रायः समस्त संस्कृत ग्रन्थ और भाषा में उपलब्ध वचनामृत आदि साधना-परक हैं, इस दृष्टि से उनके सिद्धान्त के दार्शनिक पक्ष के प्रतिपादकरूप में 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' की महनीयता चिरस्मरणीय है। इस पुण्यकृति में व्यावहारिक जीवन को योगसाधना के स्तर पर विवेचित किया गया है। यद्यपि 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' अपने पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है तथापि इसमें महत्व के औपनिषद, दार्शनिक और यौगिक विचारों का आधार ५८ दुर्लभ और सर्वमान्य ग्रन्थों के उद्धरण से सम्वलित है। इससे ग्रन्थ के मूल्यांकन और उपादेयता के ध्रुवीकरण में बड़ी सहायता मिलती है। गोरक्षनाथजी और सिद्धसम्प्रदाय के सम्बन्ध में सुनिश्चित सिद्धान्तों के शोध-कार्यमें संलग्न मनीषियों के लिये 'गोरक्ष-सिद्धान्तसंग्रह' की महत्ता सर्वथा सापेक्ष और वरणीय है। 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' के प्रणेता ने शाबरतन्त्र, पद्मपुराणान्तर्गत कपिलगीता आदि से उद्धरण प्रस्तुत कर सिद्धमतपरम्परा को अनादि सिद्ध किया है। 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' नाथयोग पर एक प्रामाणिक और विश्वस्त थेसिस—विवेचनात्मक निबन्ध है। इसमें योगोपनिषद्, गोरक्षनाथ की अमनस्कयोग, योगबीज, सिद्धसिद्धान्तपद्धति, 'गोरक्षसंहिता' विवेकमार्तण्ड आदि कृतियों तथा अवधूतगीता, उत्तरगीता, आदिनाथसंहिता, कुलार्णवतन्त्र, पद्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, षट्शाम्भवरहस्य, भगवद्गीता, तंत्रमहार्णव, राजगुह्य, हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता, षोडशनित्यातंत्र आदि की विचारसरणियों का समीचीन समन्वय उपलब्ध होता है। नाथसिद्धों के अध्ययन में इससे बड़ी सहायता मिलती है। नाथयोगपरक सैद्धान्तिक विषय-विवेचन में प्रणेता ने बड़ी कुशलता और बहुज्ञता का परिचय दिया है, नाथस्वरूप की प्राप्ति के लिये अत्याश्रमी योगसिद्ध अवधूत सद्गुरु के चरणसन्निधान और अनुग्रह-प्राप्ति पर विशेष बल दिया है। 'स्वरूपेणावस्थानम्' ही इस गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह का तात्पर्य है और इसकी उपलब्धि गुरु की प्रसन्नता के आधारभूत है। सिद्धसिद्धान्त के अनुसार गुरुवाक्य से ही ज्ञान, मुक्ति, स्थिति और सिद्धि की प्राप्ति होती है। पिण्डसंवित्ति के लिये गुरुकृपा की प्राप्ति अनिवार्य है। योगसिद्धि की दिशामें ग्रन्थकार ने गोरक्षनाथ की सिद्धसिद्धान्तपद्धतिके प्रश्रयमें कहा है, योग की प्रशंसा की है।

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा ॥
(सि० सि० प० ५ । २२)

परमपद-प्राप्ति के लिये गुरु की प्रसन्नता की आवश्यकता है, जो योगसाधना की फल-सिद्धि है । ग्रन्थ में सिद्धसिद्धान्तपद्धति के परिप्रेक्ष्य में गुरु-कृपा का महत्त्वांकन है ।

प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ।
(सि० सि० प० ५ । ६५)

भगवान् गोरक्षनाथ की दिव्यातिदिव्य विभूति और योगदर्शन के निष्णात विद्वान् तथा नाथयोग और सिद्धमत की साधनापद्धति और सिद्धान्त के असाधारण मर्मज्ञ गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथजी महाराज के अनुग्रह और स्नेह सिक्त आशीर्वाद से संशोधित मूल संस्कृतपाठ और उसके भावानुरूप परिमार्जित, परिवर्धित हिन्दी रूपान्तर सहित 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' का प्रकाशन और सम्पादन सम्भव हो सका । ग्रन्थ के यथाशक्ति शुद्ध मुद्रण तथा सज्जासमलंकरण के लिये मैं श्रीपरेशदत्तजी के प्रति आभारी हूँ । मैं हिन्दी रूपान्तरसहित मूलपाठ की मुद्रणयोग्य शुद्धातिशुद्ध टंकित प्रतिलिपि की प्रस्तुति के लिये श्रीमहन्त अवेद्यनाथजी महाराज के परम कृपापात्र पण्डित द्वारिका प्रसाद तिवारी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ । 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' की ही शब्दावली में मैं भगवच्चरणारविन्द में प्रणति समर्पित करते हुए क्षमाप्रार्थी हूँ—

स्वयं ज्योतिः सत्यमेकं जयति ।
तव पदं सच्चिदानन्दमूर्तेः ।

आनन्दसदन,
अलीनगर, गोरखपुर
अनन्त चतुर्दशी, २०३६ वि०

रामलाल श्रीवास्तव
सम्पादक, 'योगवाणी'

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह

निर्गुणं वामभागे च सव्यभागेऽद्भुता निजा।
मध्यभागे स्वयं पूर्णस्तस्मै नाथाय ते नमः॥
मुक्ता लुठन्ति पादाग्रे नखाग्रे जीवजातयः।
मुक्तामुक्तगतेर्मुक्तः सर्वत्र रमते स्थिरः॥
वामभागे स्थितः शम्भुः सव्ये विष्णुस्तथैव च।
मध्येनाथः परंज्योतिस्तज्ज्योतिर्मे तमोहरम्॥

जिनकी बायीं ओर निगुणस्वरूप (ब्रह्म) और दाहिनी ओर अद्भुत निज-शक्ति—इच्छाशक्ति (परमेश्वरी पराम्बा महामाया) विराजमान हैं और बीच में जो स्वयं पूर्ण अखण्ड (परमशिव) सर्वाधार—द्वन्द्वातीत (अलखनिरंजन द्वैता-द्वैतविवर्जितस्वरूप) विद्यमान हैं, उन श्रीनाथ (आदिब्रह्म, आदिनाथ परमेश्वर) को नमस्कार है।

(संसार के विषयभोगों में अनासक्त होकर आत्मचिन्तन करते हुए निवृत्तिमार्ग का वरण कर भवसागर से पार उतर कर, कर्मफल के बन्धन से परे होकर) आत्म-ज्ञान में स्थित मुक्त, असंख्य जीव (प्राणी) श्रीनाथजी के चरणदेश में नखों के अग्र-भाग में लोटते रहते हैं, (श्रीनाथजी के) स्वरूपचिन्तन में तत्पर हैं पर अमुक्त और मुक्त, दोनों तरह की द्वन्द्वात्मक स्थिति से परे जीवात्मा तो साक्षात् नाथ-स्वरूप की ही प्राप्ति कर लेता है, परमकैवल्यरूप साक्षात् श्री (आदि) नाथ ही हो जाता है।

जिसकी बायीं ओर (कल्याणस्वरूप शिव) शम्भु और दाहिनी ओर (विश्व-व्यापक) विष्णु विराजमान हैं और मध्यभाग में परमज्योतिस्वरूप वे (अलख-निरंजन परमेश्वर) श्रीनाथ ही विद्यमान हैं, वही श्रीनाथस्वरूपज्योति (हमारे हृदय में स्थित अज्ञान—) अन्धकार का नाश (हरण) करती है अथवा करनेवाली है—हमारे आत्मस्वरूप की प्रकाशिका है।

अवधूत का स्वरूप और लक्षण

अस्मिन् मार्गे सर्वश्रेयोमूलभूतो गुरुरेव, स चावधूत एव नान्यः, स कोऽवधूत इत्यपेक्षयामाह—

वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे पदे।
दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्यं सोऽवधूतः श्रियेऽस्तु नः।
एकहस्ते धृतस्त्यागो भोगश्चैककरे स्वयम् ॥
अलिप्तस्त्यागभोगाभ्यां सोऽवधूतः श्रियेऽस्तु नः ।

इस (नाथपंथ, सिद्धमत, सिद्धामृत) मार्ग में गुरु ही समस्त मंगलों का स्वरूप (मूल आधार) है, दूसरा कोई नहीं, केवलमात्र अवधूत ही गुरु हो सकता है। अवधूत है कौन ?—इस सम्बन्ध में (जिज्ञासा की तृप्ति के लिये) कहा है :

जिसके प्रत्येक वचन में वेदमंत्र (वेद का सारतत्व) सन्निहित (अभिव्यक्त) है, (प्रत्येक वचन वेदमंत्र ही है), जिसके पद-पद में तीर्थ बसते हैं (जिसके चलने से पदस्पर्श मात्र से भूमि तीर्थस्वरूपिणी हो जाती है), जिसकी प्रत्येक (कृपा–) दृष्टि में कैवल्य–मोक्ष प्रदान करने की क्षमता है (जिसकी कृपा-दृष्टि पड़ते ही योग साधक अपने निरंजनस्वरूप में स्वस्थ हो जाता है), वह अवधूत हमारा कल्याण करे। जिसके एक हाथ में त्याग (निवृत्ति, मोक्ष) है और दूसरे हाथमें भोग (प्रवृत्तिमार्ग का समस्त सुखसाधन है, पर जो निवृत्ति और प्रवृत्ति (मोक्ष और भोग) में (सर्वथा) अलिप्त है, वह अवधूत हमारा कल्याण करे।

सिद्धसिद्धान्तपद्धति में :—

यः सर्वान् प्रकृतिविकारान् अवधुनोतीत्यवधूतः। (६।१)
प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत्सिद्धयोगिराट् ॥ ६।६३)

जो प्रकृति के विकारों (पांचभौतिक देहगत आसक्ति और उससे सम्बन्धित धन, स्त्री, पुत्र के प्रति मोहादि भावजन्य विकारों का (अवधूनन) त्याग कर देता है, वही अवधूत कहा जाता है, (वही योगी है)। शक्ति सृष्टि का विस्तार (प्रसार) प्रकाशित करती है, शिव (सृष्टि का संकोच) संहार प्रकट करते हैं, जो सृष्टि और संहार, दोनों क्रियाओं को करने में समर्थ है, वह सिद्धयोगिराज हो जाता है।

अवधूतगीता में :-

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सम्पूर्णं परमात्मनि ।
भिन्नाभिन्नं न पश्यामि तस्याहं पंचमाश्रमी ॥

ब्रह्मा से लेकर ठूँठपर्यन्त—समस्त (चराचर) जगत् परमात्मा में ही अधिष्ठित (समाया) है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम से भी परे पंचमाश्रम में स्थित मैं (अवधूत) उनमें भेद-अभेद नहीं देखता हूँ । (मेरी दृष्टि में परमात्मस्वरूप वे अभेद हैं, एक हैं।)

सूतसंहिता में:-

अतिवर्णाश्रमी प्रोक्तो गुरुः सर्वाधिकारिणाम् ।
न कस्यापि भवेच्छिष्यो यथाहं पुरुषोत्तमः ॥
('यथाहं पुरुषोत्तमः' इति विष्णुप्रति शिववचनम्।)
अतिवर्णाश्रमो साक्षाद् गुरूणां गुरुरुच्यते ।
तत्समो नाधिकश्चास्मिल्लोकेऽस्त्येव न संशयः ॥
(मुक्तिखण्ड ५ । १४-१५)

चारों वर्णों और चारों आश्रमों के आचार-विचार से भी श्रेयस्कर पंचम आश्रम के आचार-विचार में (आत्मस्वरूपज्ञान में) सन्निष्ठ अतिवर्णाश्रमीं समस्त अधिकारी, योगमार्ग के उपयुक्त शिष्यों का गुरु कहा जाता है। वह स्वयं किसी का भी शिष्य नहीं होता, जिस तरह मैं पुरुषोत्तम हूँ, उसी तरह वह अवधूत योगिराज होता है। 'यथाहं पुरुषोत्तमः'—यह शिवजी का वचन (भगवान्) विष्णु के प्रति है। अतिवर्णाश्रमी अवधूत योगिराज गुरुओं का भी साक्षात् गुरु कहा जाता है। निस्सन्देह इस लोक (संसार) में उसके समान अथवा उससे बढ़कर कोई भी गुरुपद के योग्य नहीं है।

पक्षपात का स्वरूप और लक्षण

ब्रह्मबिन्दूपनिषद् में:—

पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ६ ॥
स्वरेण साधयेद्योगमस्वरं भावयेत्परं ।
अस्वरेण हि भावेन भावो नाभाव इष्यते ॥ ७ ॥
तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते ध्रुवम् ॥ ८ ॥

जब परमात्मा के द्वैत-अद्वैत रूप और स्वरूप के चिन्तन में किसी भी प्रकार के पक्षविशेष का आग्रह नहीं रह जाता है, तब योगी ब्रह्मस्वरूप—साक्षात् ब्रह्म हो जाता है। प्रणव-उपासना के द्वारा, ॐकार का ध्यान करते हुए योग-साधना करनी चाहिए, उसके बाद प्रणव से भी अतीत परमज्योतिस्वरूप अलखनिरंजन (आदिनाथ) परमशिवस्वरूप, परमात्मतत्व का विचार अथवा चिन्तन करना चाहिए। ॐकारातीत अलखनिरंजन, परमज्योतिस्वरूप के विचार अथवा चिन्तन से ब्रह्मस्वरूप— ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है, अभाव की नहीं। वही निष्कल-निर्विकल्प, निराकार ॐकारातीत परमशून्यस्थ निरंजन ब्रह्म है, वह ब्रह्म में ही हूँ—ऐसा तत्वबोध हो जानेपर ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है, योगी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

तत्राशङ्कते—पक्षपातः क इति। देहाभिमानः एव सः। सोऽपि क इति अहं ब्राह्मणोऽहं,क्षत्रियोऽहं, वैश्योऽहं,शूद्रोऽहं, पुनरन्त्यजोऽहं,ब्रह्मचार्यहं, गृहस्थोऽहं, वानप्रस्थोऽहं, संन्यास्यहमुत्तमोऽहं, मध्यमोऽहमधम इत्यादि संकल्प एव सः। तं संकल्पं विहाय सर्वव्यापकं परमनाथं याथातथ्येन पश्यत्यथ मुक्तोभवति तादृश एव स्यादिति। तथा च वर्णाश्रमादिव्यवहारमतीत्यनाथं साक्षात्कुर्वतो मुक्तिरिति।

ऐसी स्थिति में यह आशंका की जाती है कि पक्षपात क्या है। इसका समाधान यह है कि देहाभिमान—देह में अहंभाव, आत्मा का आरोप ही पक्षपात है। यह देहाभिमान क्या है? (आत्मस्वरूप का विस्मरण कर यह कहना कि) मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, फिर मैं अन्त्यज हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं उत्तम (कुल का) हूँ, मैं मध्यम (बीच की श्रेणी का) हूँ। मैं नीच हूँ, इत्यादि—इस तरह का संकल्प ही देहाभिमान है। इस संकल्प का त्याग कर जो सर्वव्यापक (सर्वाधार, सर्वेश्वर) परमेश्वर, परमनाथ, आदिनाथ का यथार्थ सत्स्वरूप अपने ही व्यष्टिपिण्ड (शरीर) में अभिव्यक्त देखता है, जानता है, वही प्राणी मुक्त होता है अथवा आदिनाथस्वरूप हो जाता है। इस तरह वर्णाश्रम के व्यवहार में निरपेक्ष (नितान्त निःस्पृह) प्राणी की श्रीनाथजी—अलखनिरंजन महेश्वर के साक्षात्कार से (सहज) मुक्ति (सत्स्वरूप की प्राप्ति) हो जाती है।

श्रीनाथसाक्षात्कार से ही मुक्ति की प्राप्ति

यदि कोऽपि वदेद्वर्णाश्रमाचारव्यवहारं त्यक्तवतः परमयोगिनो मुक्तिर्भवतु नाम, वर्णाश्रमाचारवतः सा कथं न भवेत्? "कर्मणैव हि

संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इत्यादीनि कानिचिच्छास्त्रवाक्यान्यवलम्ब्य वदन्ति चामुको गृहस्थो मुक्तो मुक्तश्चामुको भिक्षुरिति ? तत्रोच्यते—गुणानतीत्यैव मुक्तो भवति न तु गुणाभिमानीति सर्वसम्मतः सिद्धान्तो भवत्येव। वर्णव्यवहारे तु न सम्भवति गुणातीतत्वम् । कथम् ? वर्णमात्रस्यापि गुणनिर्मितत्वादिति। उक्तं च गीतायाम्—

> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
> तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥ (४।१३)

यदि कोई कहता है कि वर्णाश्रम के आचार-व्यवहारनिरपेक्ष योगी की मुक्ति होती हो तो हो, वर्णाश्रम के आचारपरायण की मुक्ति क्यों न होगी ? कुछ लोग, जनक आदि कर्म से ही, वर्णाश्रम के आचार में तत्पर रहने से ही मुक्ति में स्थित हो गये—इस तरह शास्त्र के वचनों का आश्रय लेकर कहते हैं कि अमुक गृहस्थ मुक्त हो गया तथा अमुक संन्यासी मुक्त हो गया। इस सम्बन्ध में यही कहा जाता है कि गुणों से रहित (त्रिगुणातीत) होने पर ही प्राणी मुक्त होता है, गुणाभिमानी मुक्त नहीं हो सकता, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। वर्णोचित आचार-व्यवहार में स्थित रहते हुए गुणों से ऊपर उठ जाना, गुणों की अपेक्षा अथवा आवश्यकता से परे हो जाना सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वर्णमात्र (चारों वर्णों) का सृजन गुणों के आधार पर ही किया गया है। गीता में कहा गया है कि गुण और कर्मों के विभाग से चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मेरे द्वारा रचे गये हैं। यद्यपि मैं उनका कर्ता हूँ—स्रष्टा हूँ तथापि तुम मुझ अविनाशी (परमात्मा) को उनका अकर्ता ही जानो।

तथा च कथं गुणसत्वे मुक्तिरिति ? तत्र वादी वदति—वर्णाभिमानिनः किं न त्यजन्ति गुणानिति ? सत्यम्, यदि गुणांस्त्यजेयुस्तर्हि कथं वर्णसद्भावः ? गुणमूलकत्वादेव वर्णत्वस्य। तथा चाश्रमित्वं स्यात् ? तदा वादी वदति—भवद्भिस्त्वाश्रमिणोऽपि गुणातीतत्वाभावान्मुक्तिर्नेत्युच्यते। सा च भगवद्वचनक्रमेण त्वायास्यति तत्र किमुत्तरमिति ? उच्यते, नैवमाश्रमिणो मुक्तिरायाता। कथम् ? आश्रमाणामपि गुणलेशत्वात्। प्रथमतो वर्णव्यवहारेण गुणभजनम्। गुणवृत्तिषु च सत्वगुणवृत्तयउत्तमाः रजस्तमोवृत्तयस्ततो निकृष्टा इति कृत्वा गुणेष्वप्युत्तमादित्वं स्यात्, परन्तु गुणवृत्तित्वं तु सर्वसाधारणमतो नास्ति गुणवृत्तीनां मुक्तिसाधकत्वम्। तत्र दृष्टांत :—

तब गुण की सत्ता के (प्राणी में) विद्यमान रहते हुए उसकी मुक्ति किस तरह हो सकती है ? इस पर वादी कहता है—वर्णाभिमानी क्या गुणों का त्याग नहीं करते ?—करते हैं। सच है, यदि वे गुणों का त्याग कर ही दें तो वर्ण की सत्ता किस तरह रहेगी ? वर्ण की सत्ता का मूलाधार तो गुण ही है। (वर्णत्व के न रहने पर) आश्रम की सत्ता (आश्रमपरक व्यवहार) तो रहेगी ही ? तब वादी कहता है--आप लोगों ने ही कहा है कि गुणातीतत्व (गुणनिरपेक्षता) के अभाव के कारण आश्रम में स्थित (आश्रमधर्म का पालन करनेवाले) प्राणियों की भी मुक्ति नहीं होती। वह तो आप के कहने के अनुसार आयेगी ही। फिर आप का इस सम्बन्ध में क्या कहना (उत्तर) है ? कहा जाता है कि इस तरह आश्रम-धर्म में स्थित प्राणी (आश्रमी) को मुक्ति नहीं प्राप्त होगी। ऐसा क्यों ? क्योंकि आश्रमों का भी मूल कारण गुण ही है। पहली बात तो यही है कि वर्ण के व्यवहार से गुणों की प्राप्ति होती है, उन तीन गुणों (सत्व, रज, तम) की वृत्तियों में भी उत्तम सत्वगुण की वृत्तियाँ ही हैं, रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियाँ (उन उत्तम गुणों की तुलना में) निकृष्ट—निम्नकोटि की हैं। ऐसा करने पर गुणों में भी उत्तम, मध्यम, निकृष्ट आदि की कल्पना होगी, पर गुणवृत्ति तो सर्वसाधारण है, इसलिये गुणवृत्तियों से मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। दृष्टान्त है :—

यथा द्वे स्त्रियौ रूपवत्यौ भवतस्तयोर्द्वयोरपि संयोगे न भवेद् गर्भोत्पत्तिः किन्तु तद्धर्मभिन्नत्वेन पुरुषेणैव सा भवेत्, किञ्च सौन्दर्यतारतम्येनैकस्या अपरा अधिका न्यूना वा भवतु नाम, परन्तु भोक्ता तु तयोर्द्वयोरपि पुरुष एव, नास्ति तयोरन्योन्यं भोक्तृभोग्यत्वम्। तथा नास्ति वर्णानां साक्षान्मुक्तिविषयेऽन्योन्यं गुरुशिष्यत्वम्। किञ्चाश्रमिणोऽपि प्रथमतो वर्णाभिमानेन गुणभाज एवेति चोत्तरत्रापि प्रारब्धमभिमत्य भोगभाजो भवन्ति। तेन च प्रारब्धकर्मणांभोगोऽवश्य इति कृत्वा कर्मणां सत्यत्वं तावद् दर्शयति—यतो गुणलेश एतेषामपि न निवृत्तो यतो मुक्तत्वपुरुषार्थविहीनास्तेऽपि नपुंसकप्राया: सन्तो न मुक्तिस्त्रियमर्हन्ति।

दो स्त्रियाँ हैं। वे रूपवती हैं, पर उन दोनों के पारस्परिक संयोग (रमण) से गर्भ की उत्पत्ति असम्भव है, गर्भोत्पत्ति तो उनसे भिन्नधर्मी पुरुष के संयोग से ही होती है, साथ-ही-साथ यह भी ध्यान देने की बात है कि दोनों एक-दूसरे से घट बढ़ कर रूपवती हों पर (यह निर्विवाद है कि) उन दोनों में भोगप्रवृत्त:(रमणशील) पुरुष ही हो सकता है, उन दोनों में यह क्षमता नहीं है कि वे एक-दूसरे से भोगप्रवृत्त हों, रमणशील हों, अन्यथा एक-दूसरे की भोग्या बनें (काम की तृप्ति

करें), उन दोनों में भोक्तृत्व और भोग्यत्व का एक-दूसरे के प्रति सर्वथा अभाव हैं। इसी तरह चारों वर्णों के लोगों का परस्पर में एक-दूसरे का गुरु तथा शिष्य होने का अधिकार नहीं है, आश्रमधर्म का पालन करनेवाले भी वर्णव्यवहार से गुण के भागी ही होते हैं, उसके बाद प्रारब्ध कर्म स्वीकार कर वे (गुण के) भोगी हो जाते हैं। प्रारब्ध-कर्म का इसी कारण भोग अवश्यमेव प्राप्त होता है, ऐसा मान कर कर्मों की सत्यता प्रकट करते हैं, इन कर्मों की गुणमूलकता-निवृत्ति नहीं होती है और ये मुक्तस्वरूप पुरुषार्थ से विहीन (रहित) होते हैं, इसलिये ये नपुंसक के समान हीं हैं, इसलिये मुक्तिरूपिणी स्त्री के योग्य नहीं होते--इनके द्वारा मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

अवधूत ही गुरु हो सकता है

यद्यपि नपुंसकाः पुरुषवेषिणो वर्तन्ते, तथापि पुरुषत्वेन संतति-सम्पादका न भवन्ति, एवं वेषमात्रेणाश्रमिणोऽपि सम्मानपूजाद्यर्हन्तु नाम गुरुत्वम्। अतो गुणातीतत्वेनात्याश्रमिण एव मुक्तिप्रदगुरुत्वं नान्यस्य कस्यापीति बहुधा शास्त्रे निरूपितम्।

यद्यपि नपुंसक पुरुषवेष में रहते हैं और उसी वेष के अनुरूप समस्त व्यवहार में तत्पर रहते हैं तथापि वे पुरुषत्व के द्वारा सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं, उनमें पुरुषत्व का (स्त्री में भोगप्रवृत्त होकर गर्भ-स्थापना की शक्ति का) नितान्त अभाव रहता है। इसी तरह आश्रमी अपने वेषमात्र से सम्मान-पूजा आदि के योग्य होने से श्रेष्ठता--गुरुता प्राप्त करते हैं, पर गुरुत्व, गुरु होने की शक्ति का उनमें सर्वथा अभाव होता है। अतएव गुणातीत--त्रिगुणों की वृत्तियों में सर्वथा निःस्पृह अथवा निरपेक्ष या परे होने से अत्याश्रमी अवधूत को मुक्ति प्रदान करने-वाला गुरुत्व-गुरुपद प्राप्त हो सकता है, (अत्याश्रमी ही गुरुरूप में अपने शिष्यों को विषयभोगों के बन्धन से छुटकारा देकर संसार-सागर से पार उतारने में समर्थ होता है) ऐसा अधिकार किसी दूसरे को नहीं प्राप्त है, इस सम्बन्ध में शास्त्र में यथेष्ट निरूपण उपलब्ध होता है।

कैवल्योपनिषद् में :

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः।
अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्यास्वगुरुं प्रणम्य॥

अत्याश्रमी अवधूत योगी स्नान आदि नित्य कर्म से निवृत्त होकर पवित्रात्मा (सहज) सुखासन में निर्जन एकान्त स्थान में स्थित होकर, ग्रीवा, शिर और शरीर को एकसीध में रखकर (समकायग्रीव होकर) समस्त कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय (और मन) को वश में कर भक्तिपूर्वक अपने गुरु को प्रणाम कर (अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त, ब्रह्मयोनि, सच्चिदानन्दस्वरूप शिव का ध्यान कर अज्ञान-अन्धकार के पार हो जाता है।)

तेजोबिन्दूपनिषद् में :—

लोभं मोहं भयं दर्पं कामं क्रोधं च किल्विषम् ॥ १२ ॥
शीतोष्णे क्षुत्पिपासे च संकल्पविकल्पकम् ।
न ब्रह्मकुलदर्पं च न मुक्तिग्रन्थिसंचयम् ॥ १३ ॥
न भयं न सुखं दुःखं तथा मानावमानयोः ।
एतद्भावविनिमुक्तं तद्ग्राह्यं ब्रह्म तत्परम् ॥ १४ ॥

जो लोभ, मोह, भय, दर्प (अभिमान) काम, क्रोध, पाप, शीत-ताप और भूख-प्यास के संकल्प-विकल्प से रहित है, जिसमें ब्राह्मण ऐसे उच्च कुल में जन्म लेने का गर्व नहीं है, जो मुक्ति को भी बन्धन ही समझता है अथवा जो मुक्ति-प्रतिपादक ग्रन्थों का–('ग्रन्थ' पाठक्रम से) ––भी संचय अथवा संग्रह नहीं करता, जो भय और सुख-दुःख, मानापमान में निर्द्वन्द्व है, इन सभी भावों से विनिर्मुक्त—रहित योगी ही परात्पर ब्रह्म को प्राप्त होने योग्य है ।

अमनस्कयोग में :—

कुलाचारविहीनस्तु गुरुरेकोहि दुर्लभः । (२ । १७)

कौलाचार अथवा कुल और आचार (वर्णाश्रम की मर्यादा) विहीन, (निरपेक्ष) ऊपर उठा हुआ ही एकमात्र (अत्याश्रमी अवधूत योगी) गुरु है, वह दुर्लभ ही है ।

इति वर्णाश्रमित्वमुक्तम् । नास्ति वर्णाश्रमाचारे सर्वारम्भपरित्याग इति । पुनरेवं चावधूत एवं सन्मार्गदर्शनशीलो भवति ।

स एव गुरुर्मुमुक्षुभिः कर्तव्यः ।

इस तरह वर्णाश्रम में स्थित का वर्णन किया गया है । वर्णाश्रम के आचार-पालन में समस्त कर्मों का परित्याग सम्भव ही नहीं है । ऐसी स्थिति में एकमात्र

अत्याश्रमी योगी अवधूत ही (योगमार्गदर्शक) गुरु हो सकता है, जो सन्मार्ग का दर्शन कराने में, सन्मार्ग में शिष्यों को तत्पर करने में समर्थ है। जिन लोगों को सत्स्वरूप की प्राप्ति की इच्छा है, मुक्ति-प्राप्ति की स्पृहा है, उन्हें अत्याश्रमी अवधूत को ही गुरु--सन्मार्गदर्शक स्वीकार करना चाहिए।

फलितानेकपुण्यानां मुमुक्षूणां हितावहम् ।
साधनं साधनश्रेष्ठमाह योगमतः परम् ॥

अनेक जन्म के पुण्यों के फलस्वरूप मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा जागती है, इसलिये मुमुक्षुओं के लिये सर्वश्रेष्ठ—सर्वोत्तम परम हितकारक साधन योग कहा गया है।

योग-प्रशंसा

सिद्धसिद्धान्तपद्धति में :—

सन्मार्गश्च योगमार्गस्तदितरस्तु पाखण्डमार्गस्तदुक्तमादिनाथेन,

योगमार्गेषु तन्त्रेषु दीक्षितास्तांश्च दूषकाः ।
ते हि पाखण्डिनः प्रोक्तास्तथा तैः सहवासिनः ॥
योगमार्गात्परोमार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितं पुरा ॥

(सि० सि० प० ५।५, २२)

सन्मार्ग तो योगमार्ग ही है, इसके अतिरिक्त अशास्त्रीय, स्वतन्त्ररूप से ल्पित मार्ग पाखण्डमार्ग है। (श्रुतिप्रतिपादित सच्छास्त्रसम्मत मार्ग ही सन्मार्ग है) ादिनाथ (शिवगोरक्ष) ने इस सन्मार्ग का निरूपण किया है।

(योगमार्ग और तन्त्रमार्ग, दोनों-के-दोनों निगमागमसम्मत और यम-नियमादि था ईश्वरप्रणिधान, भक्ति और श्रद्धा, धारणा, ध्यान-समाधि के द्वारा परमा- ासाक्षात्कार के सोपान हैं) इस योगमार्ग—तन्त्रमार्ग में दीक्षित साधकों और मुक्षुओं की जो लोग निन्दा करते हैं, वे और उनके साथ रहने वाले सहवासी ब-के-सब सन्मार्ग की प्राप्ति में असमर्थ होने से तथा परमात्मबोध और आत्म-

स्वरूप की प्राप्ति में अनभिज्ञ होने से पाखण्डी हैं। श्रुति और स्मृति में त
अन्यान्य सच्छास्त्रों में जिन श्रेयस्कर भगवत्प्राप्तिस्वरूप सन्मार्गों
(आर्षवाणी में) निरूपण है, उनमें योगमार्ग से श्रेष्ठ कल्याणकारी दूसरा म
है ही नहीं, ऐसा शिवजी ने पूर्व काल में कहा है, प्रतिपादन किया है।

विवेकमार्तण्ड में :–

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
यत्स्वयं आदिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात् ॥२०

योगशास्त्र ही सच्छास्त्र है, यह साक्षात् आदिनाथ शिवजी के मुखकम
से निर्गत–प्रकट हुआ है, साक्षात् शिवजी ने इस योगशास्त्र का कथन (प्रकाशन
किया है। इस (आत्मश्रेयस्कर) योगशास्त्र का नित्यपाठ करना चाहि
इसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अन्य (मुक्तिप्रतिपादक) शास्त्र में वर्णित ज्ञ
का विस्तार निष्प्रयोजन है।

खेचरी संहिता में :–

उत्सृज्य सर्वशास्त्राणि जपहोमादिकर्म च।
धर्माधर्मविनिर्मुक्तो योगी योगं समभ्यसेत् ॥
वर्णाश्रमाभिमानेन वर्तते श्रुतिकिंकरः।
अभिमानविहीनस्तु वर्तते श्रुतिमूर्द्धनि ॥
न वेदो वेद इत्याहुर्वेदावेदो निगद्यते।
परात्मा विद्यते येन स वेदो वेद उच्यते ॥

(योगसाधना करने वाले के लिये जप, होमादि, कर्मकाण्ड के अनुष्ठ
की आवश्यकता नहीं है) योगी को सभी शास्त्रों के (विचार) अध्ययन औ
जप, होमादि कर्म (के अनुष्ठान।) से निवृत्त होकर तथा धर्म-अधर्म से (व
करना धर्माचरण है, क्या न करना अधर्म है––इससे) ऊपर उठकर,
होकर एकमात्र योग (जो उसके लिये सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है और कर्मकाण्ड है
ही विधिपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। (योगी सूक्ष्म वेद में पारंगत होता है।
शाब्दिक श्रुति से परे होता है।) योगी वर्णाश्रम (में विहित आचार-विचार)
अभिमानी होने से (शाब्दिक) वेद का किंकर हो जाता है, वेद के शाब्दिक त
विवेचन में उलझ कर सूक्ष्म स्वसंवेद्य परमात्मज्ञान की प्राप्ति नहीं कर पाता
जब वह वर्णाश्रम के धर्माचरण के अभिमान से ऊपर उठकर योगाभ्यास में तत्

जाता है, तब वह श्रुति के शाब्दिक तत्वविवेचन से ऊपर उठकर स्वसंवेद्य खनिरंजन का साक्षात्कार कर लेता है। वेद ही एकमात्र वेद है, ऐसा नहीं कहा सकता, वेद और अवेद (स्वसंवेद्य योगशास्त्र, परमज्ञान)--दोनों का वर्णन या गया है, जिसके द्वारा परमतत्व--अलख निरंजन, ॐकारातीत परब्रह्म-मेश्वर का साक्षात्कार होता है, वही (ज्ञान) वास्तव में वेद है।

वर्णधर्मे च सन्ध्या विहिता, तत्प्रतिरूपकम् ह—
नसन्ध्या सन्धिरित्याहुः सन्ध्यासन्धिर्निगद्यते।
सुषुम्णासन्धिगः प्राणः सा सन्ध्या सन्धिरुच्यते॥

वर्ण-धर्म (के अनुष्ठान) में सन्ध्या विहित कर्म है, इसलिये उसका प्रति-क भी कहा गया है--सन्ध्या सन्धि नहीं है, ऐसा कहा गया है, सन्ध्या सन्धि ऐसा वर्णन भी किया जाता है। (योगाभ्यास में प्राणसाधना--प्राणायाम के दर्भ में विवेचन है कि) प्राण का सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश (सन्धि) होता है, सन्धि ही सन्ध्या है।

नबिन्दूपनिषद् में:--

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं योजनान्बहून्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन॥

यदि अनेक योजनों में भी फैले पहाड़ के समान पाप हो, तो वह भी ध्यान-। के द्वारा विदीर्ण हो जाता है, उसको नष्ट करने अथवा विदीर्ण करने का कोई रा उपाय है ही नहीं।

वेकमार्तण्ड में :--

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम्।
शमनं भयतापस्य योगं भजत सत्तमाः॥ ५॥

वेद कल्पतरु है। जिस तरह कल्पतरु की शाखाएँ पक्षियों के आश्रय-स्थान ठीक इसी तरह द्विजों (पण्डितों, विद्वानों) द्वारा वेद की शाखाओं, प्रतिशाखाओं-परिशीलन किया जाता है। वेदरूपी कल्पतरु का फल योग है। हे सत्पुरुषो! का सेवन (साधन) करो। यह (योग) संसार के (त्रय, आधिदैहिक, आधि-तक और आदिदैविक) ताप का शमन (नाश) कर देता है। (इसके अभ्यास वा साधन से सांसारिक दुःख अथवा भवबन्धन समाप्त हो जाता है।)

मुण्डकोपनिषद् में अंगिरा के प्रति प्रश्नरूप में शौनक के वचन :—

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञात भवतीति । तस्मै स होवाच —द्वे विद्ये वेदितव्ये इतिह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापराच । तत्रापरा–ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः (अथर्ववेदः) शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति इतिहासपुराणं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणीति । परा) ययातदक्षरमधिगम्यत इति । (१ । १ । ३–५)

(शौनक नामक प्रसिद्ध महागृहस्थ ने अंगिरा के पास विधिपूर्वक जाकर पूछा--भगवन् ! किसके जान लिये जानेपर यह सब कुछ जान लिया जाता है । अंगिरा ने शौनक से कहा कि ब्रह्मवेत्ताओं का कथन है कि दो विद्यायें जानने योग्य हैं--एक परा, दूसरी अपरा । उनमें अपरा--ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, ब्रह्मवेद (अथर्ववेद), शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष (इतिहास, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्ररूपा) है । दूसरी परा है, जिससे उस अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है, परमात्मस्वरूप का बोध होता है ।

तदक्षरं यया प्राप्यत इत्युक्तं सा योगविद्यैव । कथम् ? श्रुतिस्मृतिपुराणादिसर्वविद्यानामपरा विद्यायामेवोक्तत्वाद् योगविद्यायाश्चानुक्तत्वात् पृथक्त्वमर्थात् सिद्धम् । तदुक्तमात्मोपनिषदि—

जिसके द्वारा वह अक्षर ब्रह्म (परमात्मस्वरूप) प्राप्त किया जाता है--ऐसा कहा गया है--वह विद्या योगविद्या ही है । कैसे ? क्योंकि श्रुति, स्मृति, पुराण, आदि सभी विद्याओं का अपरा विद्या (के रूप) में ही वर्णन हो जाने से और (उसमें) योग विद्या का कथन न होने के कारण उसका पृथकत्व (भिन्न अस्तित्व) स्वयं हो सिद्ध हो गया (कि वह परा विद्या है) । यही आत्मोपनिषद में कहा गया है अथवा प्रपिपादित है ।

अथ परमात्मा नाम यथाक्षर उपासनीयः । स च प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधियोगानुमानात्म (अध्यात्म) चिन्तकवटकणिकावा श्यामाकतण्डुलोवा वालाग्रशतसहस्रविकल्पना दि) भिः स लभ्यते, नोपलभ्यते, न जायते, न म्रियते, न शुष्यति, न दह्यते, न कम्पते,--निर्गुणः साक्षीभूतः शुद्धः निरवयवात्मा, केवलः सूक्ष्मः निष्कलः निरञ्जनः, निरभिमानः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवर्जितः, निर्विकल्पः, निराकाङ्क्षः, सर्वव्यापी, सोऽचिन्त्यः निर्वर्ण्यश्च, पुनात्यशुद्धान्यपूतानि

निष्क्रियस्तस्य संस्कारो (संसारो) नास्ति (संस्कारो नास्तीत्येष परमात्मेति) ॥ १ ॥

परमात्मा अक्षर ब्रह्म के समान उपासना करने योग्य है। वह प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, योग, अनुमान और आत्म (अध्यात्म) चिन्तन के द्वारा अथवा वटबीज की कणिका, साँवा के चावल या बाल के अग्रभाग के सौवें या हजारवें भाग की कल्पनाओं द्वारा (सूक्ष्मतम स्वरूप) प्राप्त किया जाता है अथवा नहीं भी प्राप्त होता है, वह न जन्म लेता है, न मरता है, न सूखता है, न उसे जलाया जा सकता है, और न (अपने केन्द्र से) विचलित किया जा सकता है। वह गुणातीत (सत्व, रज, तम, त्रिगुणात्मक प्रकृति से परे) सबका साक्षी निर्मल—निर्विकार, अखण्डस्वरूप, अद्वितीय सूक्ष्म-निष्कल,—निराकार, निरंजन, निरभिमान (कर्ता होकर भी अकर्ता), शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध से परे , रहित), निर्विकल्प, आकांक्षारहित (निस्संकल्प) और सर्वव्यापक है। वह अचिन्त्य और अवर्णनीय है तथा अशुद्ध-अपवित्र वस्तुओं को पवित्र करनेवाला है, वह क्रियारहित—निष्क्रिय है, इसलिये उसका संस्कार नहीं होता अथवा वह जन्ममरणरूप विकार–संसार (के बन्धन) से परे है। संस्काररहित अथवा विकाररहित होने से वह परमात्मा है।

सा त्रामृतनादोपनिषदिस्पष्टमाह—

शास्त्राण्यधीत्यमेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥ १ ॥
ॐकाररथमारुह्य विष्णुं कृत्वाथ सारथिम्।
ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः ॥ २ ॥
तावद्रथेनगन्तव्यं यावद्रथपथि स्थितः।
स्थाता रथपतिस्थानं रथमुत्सृज्य गच्छति ॥ ३ ॥
मात्रालिङ्गपदं त्यक्त्वा शब्दव्यंजनवर्जितम्।
अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं हि गच्छति ॥ ४ ॥
शब्दादिविषयान्पञ्चमनश्चैवातिचंचलम् ॥
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ५ ॥
प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैवसमाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥ ६ ॥

(इत्यादि यावत्समाप्ति।)

यह योग विद्या 'अमृतनादोपनिषद्' में स्पष्ट रूप से निरूपित की गई है। मेधावी बुद्धिमान् पुरुष को शास्त्रों का अध्ययन कर बार-बार उनका विवेचन और अवलोकन करते हुए परब्रह्म को जानकर जीवन को क्षणिक लुक (आकाश से तारा टूटने पर पृथ्वी पर गिरती-सी बुझ जानेवाली ज्योति) के समान व्यर्थ ही निरर्थक (नष्ट) नहीं करना चाहिए। उसे ॐकाररूप रथपर आसीन होकर भगवान् विष्णु का सारथी रूप में वरण कर ब्रह्मलोक के यथार्थपद—ब्रह्मपद अथवा परमपद का अन्वेषण (चिन्तन) करते हुए भगवान् रुद्र की आराधना में तत्पर हो जाना चाहिए। उस ओंकाररथ का आश्रय तबतक करते रहना चाहिए, जबतक (साधन-) पथपर सहायकरूप में (परमपद की प्राप्ति की दिशा में) स्थित है। रथ पर स्थित रहनेवाला (साधना की सिद्धि—परमपद की प्राप्ति के फलस्वरूप पथ का अन्त होने पर) रथ और स्थान (पथ) का सहज त्याग कर परम-कैवल्यस्थ होकर परब्रह्म में अन्तर्लीन अथवा स्वस्थ हो जाता है। रथ के आश्रय—ॐकार की उपासना से अतीत होकर जीवात्मा रथी निरंजन का साक्षात्कार कर उसी में अभिन्न हो जाता है, स्वरूपस्थ हो जाता है। प्रणव की अकारादि मात्राओं के लिंगभूतपद का त्याग कर स्वररहित मकार के द्वारा योगसाधक उस सूक्ष्म पद में प्रवेश करता है, जो शब्दों (स्वरों) और व्यंजनों से व्यवहृत होनेवाले प्रपंच से परे है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध,—इन पाँच विषयों तथा अत्यन्त चंचल मन को प्रत्याहारित कर आत्मा में तल्लीन कर उन्हें बहिर्मुख होने से रोकना चाहिए। आत्मचिन्तन के मार्ग में उन्हें मोड़ कर (उन्हें) लगाम–रश्मि के रूप में प्रयुक्त करना चाहिए। इस तरह विषयों और मन को अन्तर्मुखी कर आत्म-चिन्तन करना प्रत्याहार कहा जाता है। प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क, (विचार) और समाधि—इन छः अंगों से युक्त योग षडंग योग कहा जाता है। इस तरह समाप्तिपर्यन्त (आरम्भ से अन्त तक) अमृतनादोपनिषद् में योगविद्या (ब्रह्मविद्या) का निरूपण किया गया है।

मनुस्मृति में :—

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजति क्रियाः।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥
(२। ८४)

हवन-यज्ञादि सारी वैदिक क्रियायें कर्ता को फल प्रदान कर देती हैं, उसके द्वारा उनका फल भोगने पर उन क्रियाओं का क्षरण—नाश हो जाता है। (वे

क्रियायें सदा फलदायिनी नहीं होती हैं) प्रजापति ब्रह्म ही अविनाशी है, उसकी प्राप्ति यज्ञादि वैदिक क्रियाओं से सरल नहीं है, वही एकमात्र ज्ञेय है, परब्रह्म परमेश्वर का सक्षात्कार अथवा प्राप्ति ही सारी यज्ञादि क्रियाओं का परम फल है, अतः उसी को जानने की साधना करनी चाहिए।

उत्तर गीता में :—

यथामृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम्।
एवं तत्वपदे प्राप्ते वेदे नास्ति प्रयोजनम्॥ (१ । २२)

जिस तरह प्राणी के जलनिधि (समुद्र) के मथे जानेपर निकले अमृत से तृप्त होनेपर जल को पीकर तृप्त होने की अथवा पिपासा को शान्त करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है, उसी तरह जिस व्यक्ति अथवा साधक ने परब्रह्म-स्वरूप तत्वपद (परमपद) की प्राप्ति कर ली है, उसके लिये ब्रह्मज्ञानप्रतिपादक वेदाध्ययन की आवश्यकता नहीं होती।

पुराणं भारतं वेदा धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
पुत्रदारादि संसारो योगमार्गस्य विघ्नकृत्॥ (३ । २)

अठारहों पुराण, महाभारत, चारों वेदों, अनेकों धर्मशास्त्र और पुत्र, स्त्री आदिरूप सांसारिक प्रपंच, सब-के-सब योगसाधना के मार्ग के महान् विघ्न हैं। (साधक इन्हीं के अध्ययन और पारिवारिक बन्धन में विमुग्ध होकर परम पद की प्राप्ति का साधन योग की उपेक्षा कर देता है।)

मुहूर्तमपि योगस्थो नासाग्रे मनसा अपि।
सर्वं तरति पापं च तस्य जन्मशतोद्भवम्॥ (२ । १०)

जो साधक योग-साधना में स्थित होकर मन को एकाग्र कर क्षणमात्र के लिये भी अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर स्थित कर लेता है, वह अपने सैकड़ों जन्म में किये पापों (के फल भोग) से छुटकारा पा जाता है।

विवेकमार्तण्ड में :—

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्य. षोडशीम्॥ (१६७)

(ध्यान योग की बड़ी महिमा है) चाहे कोई हजारों अश्वमेध यज्ञ करे, चाहे सैकड़ों वाजपेय यज्ञों का अनुष्ठान करे, पर जो फल ध्यानयोग के द्वारा प्राप्त होता है, उसकी तुलना में ध्यानयोग की सोलहवीं कला की भी हजारों अश्वमेधों और सैकड़ों वाजपेयों से भी समता नहीं की जा सकती ।

वायुपुराण में :—

> ऋचो यजूंषि सामानि वेदोपनिषदस्तथा ।
> योगज्ञानादवाप्नोति ब्राह्मणोऽध्यात्मचिन्तकः ॥

योगज्ञान ही परब्रह्म के साक्षात्कार अथवा प्राप्ति का महाज्ञान है, इसके द्वारा अध्यात्म का चिन्तन करनेवाला विद्वान् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, तथा वेदों के ही अंग उपनिषदों (आदि में वर्णित तत्व) का ज्ञान स्वतः प्राप्त कर लेता है ।

मार्कण्डेय पुराण में :—

> एतत्ते कथितं ज्ञानं योगं चैनं निबोध मे ।
> यं प्राप्य ब्रह्मणो योगी शाश्वतीं मान्यतां व्रजेत् ॥

इस तरह मैंने ज्ञान का निरूपण कर दिया, अब मुझसे योग का ज्ञान समझो, जिसे प्राप्त कर (जानकर) योगी ब्रह्म की शाश्वती प्रतिष्ठा में स्थित हो जाता है अथवा अविनाशी परब्रह्म पद की प्राप्ति कर लेता है ।

एवं बहुधा शास्त्रेषु योगस्य प्रशंसा विदितैव, तस्या दिङ्मात्रमिदं दर्शितम् । तस्य योगस्य लक्षणं तु विवेकमार्तण्ड उक्तम्—

> **योगं चात्र प्रवक्ष्यामि योगं चाष्टाङ्गसंयुतम् ।**
> **संयोगं योगमित्याहुः क्षेत्रज्ञ(जीवात्म)परमात्मनोः॥**

इस तरह शास्त्रों में योग की प्रशंसा प्रचुरता से उपलब्ध होती है, यह सर्वथा प्रसिद्ध ही है । उस (प्रशंसा) का संकेत मात्र ही निरूपित है । विवेक-मार्तण्ड (योग—) ग्रंथ में इस योग के लक्षण पर प्रकाश डाला गया है—

अब मैं योग का वर्णन करूंगा, जो आठों अंगों, (यम, नियम, आगम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) से संयुक्त है, यही अष्टांगयोग

है। शरीर में स्थित जीवात्मा और परमात्मा का अभिन्नत्व, संयोग अथवा ऐक्य ही योग कहा गया है।

> एतस्यैव योगस्य मंत्रयोगादीन्यङ्गानीति ज्ञेयम्।
> सन्मार्गत्वेन योगस्तु सेव्यो हित्वान्यसाधनम्।
> मुमुक्षुभिर्यतस्तेषां पदप्राप्तिः पराभवेत्॥
> योगिनो वीतसंकल्पा निर्द्वन्द्वाः पुण्यदर्शनाः।
> योगरत्नकरण्डास्ते जयन्त्यविधिगोचराः॥

मंत्रयोगादि इसी योग के अंग हैं—ऐसा जानना चाहिए।..........

योग ही सन्मार्ग (सद्ज्ञानप्राप्ति का साधन) है, इसलिये जो लोग मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक हैं; उन्हें अन्य साधनों की अपेक्षा योगमार्ग का ही सेवन करना चाहिए, जिससे उन्हें परमपद की प्राप्ति हो जाय। जो किसी भी तरह का संकल्प नहीं करते (सुख, दुःख, शीत-ताप, राग-द्वेष आदि) द्वन्द्वों से मुक्त हैं, जो पुण्यात्मा हैं अथवा जिनके दर्शनमात्र से ही पुण्य की प्राप्ति होती है, जो योग (ज्ञानरूपी) रत्न के पिटारे (सत्पात्र) हैं और परमपद के प्रत्यक्षदर्शी हैं, वे योगी ही विजयी (सिद्धमनोरथ अथवा सफल) हैं।

तद्गतामेव परमपदप्राप्तिरिति तेषां स्वरूपं प्रशसां चाह कैवल्योपनिषदि—

> विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः।
> अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य॥
> हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्।
> अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्॥
> तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्।
> उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्॥
> ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥
> स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
> स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः॥
> स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्।
> ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये॥
> (१। ५-६)

ऐसे योगियों को ही परमपद की प्राप्ति होती है, उनके स्वरूप और प्रशंस
का कैवल्योपनिषद् में वर्णन किया गया है :—

अन्त्य आश्रम में स्थित योगी (अत्याश्रमी अवधूत) स्नानादि नित्य कर्म
निवृत्त होकर शुद्ध मन से निर्जन स्थान में सुखपूर्वक आसन में स्थित होकर ग्रीव
शिर और शरीर को एकसीध में रखकर, सारी इन्द्रियों को संयमित (वश में) क
भक्तिपूर्वक गुरु को प्रणाम कर अपने हृदय-कमल के मध्य में संकल्परहित (विरज
विशुद्ध, शोकरहित, अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, प्रशान्त, अमृतस्वरूप, परब्रह
आदि, मध्य और अन्त से रहित, चिदानन्द, निराकार, अद्भुत, विभु, शिव क
चिन्तन करते हैं। मुनि उमावल्लभ, परमेश्वर प्रभु, त्रिलोचन, नीलकण्ठ, प्रशान्
स्वरूप, समस्त भूतों के मूल कारण, सबके साक्षी, परमज्योतिस्वरूप का ध्यान क
उस (परम प्रभु) की प्राप्ति करता है। वही ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, अविनाशी, पर
स्वतन्त्र, परात्पर ब्रह्म है, वही विष्णु है, वही प्राण है, वही (सबका) आत्मा
परमेश्वर है, वह भूत और भविष्य में जो कुछ हो गया और जो होनेवाला है, स
कुछ है; उस अव्यय-सनातन परमात्मा को जानकर प्राणी मृत्यु का अतिक्रमण कर
है, अमरत्व प्राप्त कर लेता है, परमपद में प्रतिष्ठित होकर स्वस्थ हो जाता है
इसके अतिरिक्त संसार (विषय-प्रपंच) के बन्धन से छूटने, मुक्त होने का दूस
कोई मार्ग है ही नहीं।

गीता में :—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ६। ४६।

योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है और (शास्त्र के) ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गय
है तथा सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है, इसलिए हे अर्जुन! तु
योगी हो जाओ, योगज्ञान में तत्पर हो जाओ।

महार्णव में :—

योगी ब्रह्मा योगिनो विष्णुरूपं योगी देवो देवदेवो महेशः।
योगी मोक्षः पूर्णतत्वस्वरूपो योगी ध्यानं सृष्टिकर्ता च हर्ता ॥

इत्यादि वचनं सन्दर्भेण योगिनामेव परमश्रेयः।

योगी सृष्टिकर्ता ब्रह्मा और पालन करने वाला विष्णुरूप परमेश्वर ह
योगी संहार करनेवाला साक्षात् देवाधिदेव महेश्वर है।योगी साक्षात् मोक्ष (परम

कैवल्य स्वरूप) है वह परात्पर पूर्णब्रह्म है, योगी ध्यान का विषय ध्येय, अलख-निरंजन रूप) है, वही सृष्टिकर्ता और संहार करनेवाला (प्रभु) है। (योगी के स्वरूप-वर्णन और प्रशंसा के) इस संदर्भ में योगियों के लिये इस तरह के वचन परम श्रेयस्कर हैं।

योगी के चिह्न-मुद्रा आदि

तेषां मुख्यचिह्नं किमित्यपेक्षायां मुद्रानादविभूत्यादेशधारणं मुख्यमिति तत्प्रशंसामाह सिद्धसिद्धान्तपद्धवौ।

मुदमोदे तु रादाने जीवात्मपरमात्मनोः।
उभयोरेकसंवित्तिर्मुद्रेति परिकीर्तिता॥
मोदन्ते देवसङ्घाश्च द्रवन्तेऽसुरराशयः।
मुद्रेति कथिता साक्षात्सदा भद्रार्थदायिनी॥
(६।३०-३१)

(योगी कानों में कुण्डल धारण करते हैं, ये जीवात्मा और परमात्मा का अभिनत्व-एकत्व सिद्ध करने के कारण मुद्रा कहे जाते हैं। मुद्रा शब्द में मुद और "रा" दो पद व्यवहृत हैं) "मुद" मोदार्थक अथवा आनन्दार्थक है तो "रा" दानार्थक "रा" धातु से सिद्ध है। आनन्द का भोक्ता जीवात्मा है, तो आनन्द का दाता परमात्मा है। जीवात्मा और परमात्मा, दोनों की एकता से उनका अभेद ज्ञानसिद्ध होता है, यह मुद्रा इसी अभेदता के प्रतीक के रूप में प्रसिद्ध है। जिस योगी के कान में देवगण मुद्रा देखते हैं, उस पर वे प्रसन्न होते हैं (और अनुग्रह करते हैं) असुरवर्ग मुद्राधारी योगी को देखकर (भयभीत होकर) भाग जाते हैं। मुद्रा इसीलिये सदा कल्याणप्रदायिनी कही जाती है।

तद्धारणं कर्णयोर्विना क्षुरिकां न सम्भवतीति क्षुरिका प्रशंसामाह क्षुरिकोपनिषदि।

क्षुरिकां सम्प्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये।
यां प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तस्य जायते॥१॥

कानों में क्षुरिका के बिना मुद्रा धारण करना सम्भव ही नहीं है। क्षुरिका योगसाधना की एक यौगिक विधि है, जिसके द्वारा योगी कानों में मुद्रा धारण

करने का अधिकारी होता है। क्षुरिका की प्रशंसा क्षुरिकोपनिषद् में (विधिपूर्वक) वर्णित है :

मैं योग की सिद्धि के लिये क्षुरिका धारण करने की विधि का निरूपण-वर्णन करूँगा। इस क्षुरिका को धारण करने पर (प्राप्त करने पर) योगी जन्म-मरण के बन्धन से छूट कर अमृतत्व प्राप्त कर लेता है।

बृहदारण्यके—अथात आदेशोनेति नेतीति ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में आदेश (नाथयोगियों में एक-दूसरे के साक्षात्कार के समय व्यवहृत शब्द) का निरूपण है— 'आदेश'-इतना ही नहीं, इतना ही नहीं।

छान्दोग्ये च--उत वमादेशमित्यादि।

छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन है— 'उस आदेश को' इत्यादि।

तेषामन्योन्यमन्यत्रापि च यो वाग्व्यवहारस्तमाह—

उनका परस्पर अथवा अन्यत्र भी जो एक-दूसरे के प्रति अथवा अन्य प्रसंगों में मिलने के समय आदेशात्मक कथन-वाग्व्यवहार है, उसका वर्णन करते हैं—

सिद्धसिद्धान्तपद्धति में :-

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे।
त्रयाणामैक्यसंभूतिरादेश इति कीर्तितः ॥
आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयावहाम्।
यो योगिनं प्रतिवदेत् स वेत्त्यात्मानमीश्वरम् ॥
(६।९४-९५)

(जिसके प्रति 'आदेश' शब्द व्यवहृत होता है, उसकी 'आदेश' के उच्चारण द्वारा ब्रह्मस्वरूपता का प्रतिपादन होता है।) आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि तीनों की एकता की संभूति-उत्पत्ति, अभिन्न सत्ता ही 'आदेश' के रूप में प्रसिद्ध है। 'आदेश' परमात्मस्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली सद्वाणी है, इसके उच्चारण मात्र से जरा-मरण सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि समस्त प्रपंचात्मक द्वन्द्वों का क्षय—नाश हो जाता है।

जो प्राणी योगी के प्रति 'आदेश-आदेश' शब्द का व्यवहार करता है, प्रयोग करता है, वह आत्मा और परमात्मा (के सत्स्वरूप) को (तत्वतः) जान लेता है।

नादधारणमाह गोरक्षोपनिषदि—अनाहत शृङ्गीति।

गोरक्षोपनिषद् में नाद-धारण को अनाहत शृङ्गी कहा गया है।

तेषां भस्मोद्धूलनमपि तत्त्रिपुण्ड्रमपि च योगार्थमिति तद्धारण-प्रकारप्रशंसे प्राह कालाग्निरुद्रोपनिषदि:—

(नाथयोगियों के लिए) शरीर को भस्म से धूलित-समलंकृत करने और भस्म का त्रिपुण्ड्र धारण करने अथवा लगाने का विधान है। भस्म-लेपन और त्रिपुण्ड्र-धारण की प्रक्रिया–विधि और प्रशंसा महत्ता) का वर्णन कालाग्नि-रुद्रोपनिषद् में इस प्रकार किया गया है।

"अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छाधीहि भगवंस्त्रिपुण्ड्र-विधि सतत्त्वं किं द्रव्यमित्यादि प्रश्ने तं होवाच भगवान्—यद्द्रव्यं तदाग्नेयं भस्मसद्योदिदं ब्राह्मणैः (पंचब्रह्ममंत्रैः) परिगृह्य 'अग्निरिति भस्म' इत्यादि 'प्रकुर्वीत व्रतमेतच्छाम्भवं समाचरेत् मुमुक्षुर्नपुनर्भवाय तथा सनत्कुमार' इत्यन्तं 'समस्तपातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति, तेन सर्वे देवा ध्याता भवन्ति, स सर्वैं देवैर्ज्ञातो भवति, स सर्वतीर्थेषु स्नातोभवति देहं त्यक्त्वा शिवसायुज्यतामेति, न स पुनरावर्तते, इत्याह कालाग्नि रुद्र इति। (मध्ये मध्ये विच्छिद्य गृहीतः पाठः।)

सनत्कुमार ने भगवान् कालाग्नि रुद्र से पूछा—हे भगवन्! तत्वसहित त्रिपुण्ड्र धारण करने की विधि का वर्णन कीजिए। त्रिपुण्ड्र किस पदार्थ से किया जाता है, आदि प्रश्न पूछने पर भगवान् कालाग्नि रुद्र ने उनसे कहा कि त्रिपुण्ड्र धारण में जिस पदार्थ का उपयोग होता है, वह अग्नि के अच्छी तरह जलने पर उससे उत्पन्न भस्म है। उसे (सद्योजात आदि) पंच ब्राह्मण मंत्र का पाठ कर 'अग्निरितिभस्म' आदि पांच मंत्रों से अभिमन्त्रित कर धारण करना चाहिये। यह भगवान् शम्भु का (शैव अथवा शाम्भव) व्रत है। इससे मुमुक्षु (मोक्ष के इच्छुक) का पुनर्जन्म नहीं होता है। (सनत्कुमार ने फिर प्रश्न किया और भगवान् कालाग्नि रुद्र ने उत्तर दिया और अन्त में कहा कि जो विद्वान्, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा यति भस्म का त्रिपुण्ड्र धारण करता है) वह समस्त छोटे-बड़े पापों के फल भोगने से छुटकारा पाकर पुण्यात्मा हो जाता है, वह सभी देवताओं

के ध्यान का फल पा जाता है अथवा वह सभी देवताओं का एक साथ ही ध्यान करने में समर्थ होता है। वह सभी देवताओं द्वारा जान लिया जाता है। (सभी देवता उस पर अनुग्रह करते हैं) वह सभी तीर्थों में स्नान करने का फल पा जाता है। वह पांचभौतिक शरीर का त्याग कर शिवस्वरूप हो जाता है, वह फिर शरीर धारण कर जन्म और मरण के चक्र में नहीं पड़ता, वह परमेश्वर के परमधाम में स्वस्थ हो जाता है, साक्षात् परब्रह्म हो जाता है। इस तरह भगवान् कालाग्नि-रुद्र ने सनत्कुमार की जिज्ञासा का समाधान किया। (कालाग्निरुद्रोपनिषद् के बीच के अनेक अंश को छोड़कर उपर्युक्त पाठ ग्रहण किया गया है।)

योगियों का अनियत व्यवहार

तेषामनियत एव व्यवहार इत्याह सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ :—

क्वचिद् भोगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नो दिगम्बरः।
क्वचिद्राजा क्व चाचारी सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥
(६। २०)

उन योगियों का व्यवहार अनिश्चित होता है, ऐसा सिद्धसिद्धान्तपद्धति में कहा गया है :—

जो कहीं भोगी, कहीं त्यागी, कहीं नग्न दिगम्बर, कहीं राजा और कहीं आचारनिष्ठ का-सा व्यवहार करता है, वह योगी अवधूत कहा जाता है।

मुक्तिरूप परमपुरुषार्थमें अवधूतोंकी विशेषज्ञताका प्रतिपादन

एवं सर्वमयः सर्वेभ्यो विलक्षणः पृथगपि बहुधा सिद्धसिद्धान्त-पद्धत्यादियोगग्रन्थेषु प्रपञ्चितम्। तद्विशेषं जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्यं विस्तरभया-न्नात्र लिख्यते। एवं सर्वसाधनशिरोमणियोगमूर्तिभूता अवधूता एव परमपुरुषार्थविचक्षणाः सर्वशिरोमणयो जयन्ति।

इस प्रकार सिद्धसिद्धान्तपद्धति आदि योग-ग्रन्थोंमें प्रायः अवधूत योगीके सर्वसमाविष्ट अथवा पृथक् सबसे विलक्षण कहा गया है। यह निरूपण विशेष रूपसे जिज्ञासुओंको उन्हीं ग्रन्थों में देखना चाहिए। यहाँ विस्तार-भयसे नहीं

लिखा जा रहा है। इस प्रकार सम्पूर्ण साधनोंके शिरोमणिरूप योगके विग्रह-स्वरूप तथा महापुरुषार्थके विशेषज्ञ सर्वशिरोमणि अवधूत ही अग्रगण्य हैं।

सन्मार्गसाधका वर्णाश्रमाचारानपेक्षकाः।
योगिनो ह्यवधूता ये ते संक्षेपान्निरूपिताः॥
परमः पुरुषार्थस्तु मुक्तिरुक्ता ह्यतस्तु सा।
निरूप्यतेऽवधूतानां योगसाधनजं फलम्॥

"जो सन्मार्ग अर्थात् योगमार्गके साधक तथा वर्णाश्रमके आचरणमें निरपेक्ष हैं, उन अवधूत योगियोंका संक्षेपमें निरूपण किया गया। साथ ही परम पुरुषार्थ (कैवल्य) को मुक्ति कहा गया है, इसलिए अब उसका निरूपण किया जा रहा है, वही अवधूतोंकी योग-साधनाका फल है।"

नाथस्वरूप

परमपुरुषार्थस्तु मुक्तिरित्युक्तम्। सा च नाथस्वरूपेणावस्थानम्।

तत्स्वरूपं तु गोरक्षोपनिषदि—"अद्वैतोपरि सदानन्ददेवता।"

परमपुरुषार्थ ही मुक्ति है—ऐसा कहा गया है। वह नाथस्वरूपसे ही चरितार्थ हो सकती है। नाथस्वरूपका वर्णन गोरक्षोपनिषद्में इस तरह किया गया है—"सदानन्ददेवता अद्वैतके ऊपर विराजमान रहता है" (यही द्वैताद्वैतविवर्जित स्वरूप है।

ब्रह्मोपनिषद्में :—

'स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्विदितं तत्र लोका न लोकाः, वेदा न वेदाः, देवा न देवाः, यज्ञा न यज्ञाः, माता न माता, पिता न पिता, स्नुषा न स्नुषा, चाण्डालो न चाण्डालः, पौल्कसो न पौल्कसः, श्रमणो न श्रमणः, पशवो न पशवः, तापसो न तापसः इत्येकमेव परमिति।'

"वह परब्रह्म स्वयं मन, श्रोत्र, हाथ और पैरसे रहित है। वह प्रकाशद्वारा जाना जाता है। (वह एकमात्र ज्योतिस्वरूप है।) वहाँ लोक लोक नहीं हैं, वेद वेद नहीं हैं, देवता देवता नहीं है, यज्ञ यज्ञ नहीं हैं, माता माता नहीं है, पिता पिता नहीं है, पुत्रवधू पुत्रवधू नहीं है, चाण्डाल चाण्डाल नहीं है, पौल्कस (निकृष्ट जाति) पौल्कस नहीं है, श्रमण (बौद्ध या जैन संन्यासी) श्रमण नहीं है, पशु पशु नहीं है और तापस तापस नहीं है, अपितु सर्वत्र एकमात्र परब्रह्म ही है।"

ब्रह्मबिन्दूपनिषद् में--"नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यमचिन्त्यं चिन्त्यमेव च।' इत्यादि। (६)

न तो कोई चिन्तनीय रह जाय और न अचिन्तनीय ही, अपितु चिन्तनीय तथा अचिन्तनीय—(दोनोंमेंसे किसीके प्रति भी मनका पक्षपात जब न रह जाय, उस समय वह योग-साधक ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। कैवल्य में स्वस्थ हो जाता है।) इत्यादि।

सर्वसारोपनिषद् में :—

'कथं बन्धः कथं मोक्षः' इत्यादिप्रश्ने 'अनात्मनां देहादीनात्मत्वेनाभिमन्यते सोऽभिमानः आत्मनो बन्धस्तन्निवृत्तिर्मोक्षः।' इत्यनेन स्वरूपेणावस्थानमिति सिद्धम्।

"बन्धन कैसे होता है? मोक्ष कैसे होता है? आदि प्रश्नोंके उत्तर देते हैं—जीव देहादिकोंको, जो अनात्मा हैं, आत्मरूप मान लेता है, (जड़ देहादिको चेतन मान लेता है।) यही अभिमान है और यह अभिमान ही आत्माका बन्धन है तथा उससे (अभिमान से) निवृत्त हो जाना ही मोक्ष है।' इससे स्वरूपस्थिति सिद्ध हो जाती है।

अमनस्कयोग में :—

भावाभावविनिर्मुक्तं नाशोत्पत्तिविवर्जितम्।
सर्वसंकल्पनातीतं परं ब्रह्म तदुच्यते॥
(१।२४)

"जो भाव-अभाव अर्थात् सत्-असत्से सर्वथा मुक्त, नाश और उत्पत्तिसे रहित तथा समस्त कल्पनाओंसे परे है, वह परब्रह्म कहा जाता है।'

अवधूतगीतामें :—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
सम तत्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्॥
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥
(१।३६, ६१)

"कुछ लोग अद्वैतकी इच्छा करते हैं तो दूसरे लोग द्वैत की अभिलाषा रखते हैं, इसीलिए उन्हें उस समतत्वकी प्राप्ति नहीं हो पाती, जो द्वैत और अद्वैत से विलक्षण है। यदि वह परम देव सर्वव्यापी, अचल, पूर्ण और अविनाशी है तो उसके लिये द्वैत-अद्वैत होने की कल्पना करना महान् अज्ञान है—मोह है। कितनी बड़ी भूल है यह!"

श्रीनित्यनाथकृतसिद्धसिद्धान्तपद्धतिमें—

न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्नापि वायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः।
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधिर्नैव कल्पाः
स्वं ज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्ते॥

(१।३)

"सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर! आपके परमपदतक ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, इन्द्र और देवगण, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशाएँ, काल, वेद, यज्ञ, सूर्य और चन्द्रमा, विधि-कल्प की भी पहुँच नहीं हैं, एकमात्र सत्यस्वरूप निजा शक्ति-ज्योति ही उस (परम) पद में अभिव्यक्त है।"

सा मूर्तिः का वा? तथाह श्रीनित्यनाथकृतसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ:—

अथवा वह (सच्चिदानन्दस्वरूप) मूर्ति क्या है? इसके उत्तरमें श्रीनित्य-नाथकृतसिद्धसिद्धान्तपद्धतिमें कहा गया है:—

आदिनाथं महासिद्धं शक्तियुक्तं जगद्गुरुम्।
तं वन्दे नित्यतो वक्ष्ये सिद्धान्तं स्वानुभावतः॥

'जो महान् सिद्ध, शक्तिसम्पन्न और जगद्गुरु हैं, उन आदिनाथ (शिव) को मैं नित्य वन्दना करता हूँ। (इस प्रकार वन्दना करके अब) अपने अनुभवानुसार सिद्धान्तका वर्णन करूँगा।'

पुनरत्रैव प्रवृत्तौ आदिदेवमेतत्पदेनावस्थानं मुक्तिरिति।
नाथस्य लक्षणं तु राजगुह्ये—

पुनः इसी प्रवृत्तिमें 'आदिदेवम्' इस पदके द्वारा प्राप्त स्थिति मुक्ति है। नाथका लक्षण राजगुह्यमें इस प्रकार है:—

नाकारो नादरूपं च थकारः स्थाप्यते सदा ।
भुवनत्रयमेवैकः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ॥

'नाथ' शब्द में नाकार नादरूप है और एकमात्र थकार ही सदा
भुवनोंको स्थापित करता रहता है, ऐसे 'नाथ' शब्द से युक्त श्रीगोरक्षनाथ ! आ
नमस्कार है ।

शक्तिसंगमतंत्र में--

श्रीमोक्षदानदक्षत्वान्नाथ(द)ब्रह्मानुबोधनात् ।
स्थगिताज्ञानविभवाच्छ्रीनाथ इति गीयते ॥

श्रीआदिदेव मोक्ष प्रदान करनेमें समर्थ, नाथ-ब्रह्म अथवा नाद-ब्रह्म के
स्वरूप तथा अज्ञानकी वृद्धिको स्थगित कर देनेवाले हैं, इसी कारण उनका 'श्री
नामसे वर्णन किया गया है ।

अन्य मतवादियोंकी तत्वप्राप्तिमें असमर्थ

इत्यादीनि वाक्यानि प्रमाणानि । तस्य निदर्शनं शास्त्राणि सू
दीपा इव कथं करिष्यन्ति । तत्तु पदं तादृग्योगिनामेवापरोक्ष
सिद्धान्तः । अन्ये तु मतवादिनस्तत्पदमनालम्बमानाः स्वाभिप्रायानु
तत्पदं विधाय विवादभाराक्रान्तमतयः क्लिश्यन्ति न तु शाम्यन्ती
सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

इत्यादि वाक्य प्रमाण हैं । जिस तरह असंख्य दीपक भी सूर्यका दर्शन
करा सकते, क्योंकि सूर्य के समक्ष उनका प्रकाश नगण्य है, उसी तरह शास्त्र उ
वर्णन करने में असमर्थ हैं । वह परम पद तो नाथ-योगियोंको ही प्रत्यक्ष हो स
है, ऐसा सिद्धान्त है । उस पदका आश्रय न लेनेवाले अन्य मतवादीगण तो अ
अपने अभिप्रायके अनुसार उस पदका विवेचन करके (व्यर्थ) विवादके भ
बुद्धि को थकाकर कष्ट ही उठाते हैं, उन्हें शान्ति नहीं प्राप्त होती (स्वरूप-
अथवा परमपद में वे स्वस्थ नहीं हो पाते ।) सिद्धसिद्धान्तपद्धतिमें कहा गया है

वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया ।
भाट्टाः कर्मकलाकुला हतधियो द्वैतैन वैशेषिकाः ।

अन्ये भेदरता विवादविकलाः सत्तत्वतोवञ्चिता-
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् ।
(६ । ७३)

अनेक तर्कोंद्वारा कठोर बुद्धिवाला वेदान्ती केवल माया से ग्रस्त रहता है, शाब्दिक तर्कजाल में उलझ कर साधना से विमुख रहता है ।) कर्मकौशल में द्विग्न रहनेवाले मीमांसक (कर्मकाण्डी) तथा द्वैतवादमें रत रहनेवाले वैशेषिक द्धिभ्रमित होते हैं और भेदवाद में तत्पर रहनेवाले अन्य लोग विवाद से ाकुल रहते हैं, (अद्वैत परमात्म-चिन्तन नहीं कर पाते) इसी कारण से सत्तत्व प्राप्ति से वंचित रह जाते हैं, सच्चिदानन्द तत्व से अनभिज्ञ रहते हैं। सलिये धीर पुरुष को एकमात्र स्वभावसिद्ध (सहज) सिद्धमतका आश्रय ग्रहण रना चाहिए—अलखनिरञ्जन परमशिव का ही चिन्तन करना चाहिए

अस्यार्थः—वेदान्ती वेदोत्तरभागशास्त्रवादी अद्वैतवस्तुन्यध्यारोपाप-दाभ्यां द्वैतकल्पनां कुर्वन् बहुभिस्तर्कैः कर्कशा कठोरा मतिर्यस्य सोऽत्त व पर केवलं मायाग्रस्तो यतो निर्मायिकं वस्तु वदन् मायादूषणं च तत्र दाति । पुनर्भाट्टाः मीमांसका अनीश्वरवादमारोपयन्तः कर्मकलास्वेवा-लिताः सन्तो गतधियो भवन्ति । तथा द्वैतेन द्वैतवादेन वैशेषिका अपि धिय एव । तदन्येऽपि भेदवादरतास्तेऽपि विवादविकला एव भव-त । यत एते सत्तत्वतो वञ्चिता भवन्ति न तु तत्वमालम्बन्त इत्यर्थः स्मान्महासिद्धानां स्वाभाविकं सहजावस्थामयं मतं धीरः पुमान् संश्रयेत् । दैव श्रेयस्करमिति मान्यम् ।

व्याख्यार्थ—वेदान्ती—वेदोत्तर भाग उपनिषदादि शास्त्रों को माननेवाला, ैत वस्तु में अध्यारोप और अपवाद के द्वारा द्वैत की कल्पना करता हुआ, कों तर्कों द्वारा जिसकी बुद्धि कर्कश, कठोर हो गयी है—पर केवल याग्रस्त है, माया के ही तर्कवितर्कप्रधान स्वरूप—चिन्तन में उलझ गया है, ोंकि वह मायारहित वस्तुका वर्णन करता हुआ उसमें माया का दोष देता है—रोपण करता है—पुनः भाट्ट मीमांसकगण अनीश्वरवादका आरोप करते हुए फलों की प्राप्ति में ही उद्विग्न होकर बुद्धिहीनता का परिचय देते हैं । उसी ार द्वैत—द्वैतवाद से वैशेषिक भी भ्रष्टबुद्धि ही हैं । इनके अतिरिक्त जो भी वाद मे तत्पर रहनेवाले हैं, वे सभी विवाद से विकल ही होते हैं । (परमात्म व अथवा सच्चिदानन्दतत्व का निर्णय नहीं कर पाते हैं ।) इसी कारण वे

सत्तत्व से वञ्चित रह जाते हैं अर्थात् तत्व का आश्रय नहीं ग्रहण करते—ऐसा अर्थ है, इसलिये धैर्यशाली पुरुष को महान् सिद्धों के स्वाभाविक—सहजावस्थास्वरूप मतका आश्रय ग्रहण करना चाहिए। वही कल्याणकारी है—ऐसी मान्यता है।

सांख्या वैष्णववैदिका विधिपराः संन्यासिनस्तापसाः,
सौरावीरपराः प्रपञ्चनिरता बौद्धा जिनाः श्रावकाः।
एते कष्टरता वृथापथगताः सत्तत्वतोवञ्चिता
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत्॥
(६।७४)

(कपिलमतानुयायी) सांख्यमतपरायण, वैष्णव, वेदविहित यज्ञकर्म आदि में रत, विधि-निषेध में तत्पर, संन्यासी, तापस, सौर (सूर्य-उपासक), शैव, बौद्ध जैन, श्रावक, सब के सब जागतिक प्रपञ्चों में (लोकव्यवहार में) ही निमग्न हैं तथा कष्टदायक एवं अश्रेयस्कर मार्ग का अनुसरण करनेवाले हैं, इसी कारण सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्म तत्व की प्राप्ति से वञ्चित हैं; इसलिये धैर्यशाली पुरुष को एकमात्र सहज सिद्धमत का आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

अस्यार्थ :--सांख्याः प्रकृतिकारणवादिनः कपिलमतानुयायिन इति यावत्, वैष्णवाः पाञ्चरात्राः, वैदिका वेदानुवर्तिनस्ते च विधिपरा वाक्यकोविदा इत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्।

व्याख्यार्थ--सांख्य-प्रकृति और कारण को माननेवाले कपिलमतानुयायी आदि, वैष्णव--पञ्चरात्र आगम को माननेवाले, वैदिक-वेदानुयायी-विधिपरक विहित-अविहित कर्म--विधि-निषेध में तत्पर तथा वाक्यकुशल होते हैं और सब स्पष्ट ही है।

आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसा,
नानातीर्थनिषेवकाजिनपरा मौनेस्थिता नित्यशः।
एते ते खलु दुःखभारनिरताः सत्तत्वतो वञ्चिता
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत्॥
(६।७५)

आचार्य, अनेकों यज्ञों में दीक्षित रहनेवाले, हवनकर्म करनेवाले, नग्न रहनेवाले दिगम्बर तापस, अनेक तीर्थों का सेवन करनेवाले, वल्कल (अथवा मृगचर्म) धारण करनेवाले, नित्य मौन व्रत में स्थित रहनेवाले—सब-के-सब दुःखों के भार से दबे रहते हैं, इस कारण सत्तत्व की प्राप्ति से वञ्जित रहते हैं, इसलिये धैर्यशाली पुरुष को एकमात्र सहज सिद्धमत का आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

अस्यार्थः—आचार्या मन्त्रव्याख्यातारो बहुदीक्षिता अग्निहोत्रादि कर्तारः, त एवाहुतिपरा न तु तत्वपराः, अजिनपरा वल्कलवाससस्ते तीर्थ-निषेविका यद्वा जपपराः, शेषं स्पष्टम्। इत्यादि।

व्याख्यार्थ :—आचार्य, मन्त्रों के व्याख्यातागण, बहुदीक्षित अग्निहोत्र आदि के करनेवाले, (केवल हवन करने में ही तत्पर रहनेवाले) तत्वपरायण नहीं हैं। अजिनपरा-वल्कल का वस्त्र (अथवा मृगचर्म) धारण करनेवाले, वे सभी तीर्थ-सेवी अथवा जपपरायण हैं। शेष स्पष्ट है। इत्यादि।

हठयोगप्रदीपिका में—

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलाः (संकुलैः)।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति शांकरीम्॥
(४।४०)

कुछ लोग आगमों के जाल में उलझे हैं तो कुछ लोग निगमों (के फल) से मोहित हैं तथा कुछ लोग तर्क के माया-जाल में विमुग्ध (भ्रमित) हैं, अतः वे शांकरी (तारक विद्या अथवा उन्मनी मुद्रा) को नहीं जानते।

अस्यार्थः—केचिद्वैखानसाद्यागमोक्ततत्वभ्रमास्तत्र तत्वाभिमानिनो देहात्मवादिनश्चार्वाकसधर्माणस्ते मनुष्यास्तप्तचक्राद्यङ्किता जीवन्तोऽपि मृतकमिव शरीरं सत्कर्मानर्हं कुर्वाणा देवनिन्दका इति। केचिच्च ऋग्यजुरादिवेदासक्ताः कर्मज्ञानरताः कर्मणैवायुः पूर्णं कुर्वन्ति, अथ च तत्ववञ्चिताः साधनेऽशक्तास्ते हि कातर्येण प्रारब्धशरणा भूत्वा शरीरसुखार्थमहं ब्रह्मेति वदन्तस्तिष्ठन्ति, तदेवात्मानं चेद्विजानीयादित्यादावुक्तम्। एवं निगमसंकुला इति। केचिच्चातवर्यैश्वर्ये परमपदे वस्तुनि शुष्कतर्कानाश्रित्य पण्डितम्मन्या भवन्तीति कृत्वा शांकरी न जानन्तीति।

व्याख्यार्थ— कुछ लोग वैखानस आदि आगमों द्वारा कथित तत्वों के भ्रम से अभिभूत हैं, अतः उन्हीं तत्वों के अनुयायी हो गये हैं। वे चार्वाकधर्मावलम्बी

बन कर देहात्मवादी बन गये हैं। (देह का नाश होने पर जीवात्मा शेष रह जाता है-ऐसा नहीं मानते।) ऐसे मनुष्य तप्त चक्र आदि से चिह्नित होकर जीते हुए भी शरीर को मृतक के समान उत्तम कार्यों के अयोग्य बना लेते हैं, अतः वे देवनिन्दक ही हैं। कुछ लोग ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि वेदों में आस्था रखकर कर्मों का ज्ञान प्राप्त करने में ही उलझ जाते हैं, वे कर्म-सम्पादन (ही)—कर्मकाण्ड के अनुष्ठान ही में अपनी आयु समाप्त कर देते हैं और तत्व-प्राप्ति से वञ्चित रह जाते हैं। वे साधन करने में असमर्थ होकर कायरतापूर्वक प्रारब्ध की शरण ग्रहण करते हैं और शरीर सुख की प्राप्ति के लिये 'अहं ब्रह्म' मैं ब्रह्म हू, ऐसा कहते हुए विचरते रहते हैं। इसी को आत्मानं चेद् विजानीयात्यदि आत्मा को जान ले—ऐसा आदि में कहा गया है। इसी प्रकार नियमों में आसक्त लोग भी हैं। कुछ लोग तर्कों के ऐश्वर्य से रहित तर्कातीत परमपदरूप वस्तु में शुष्क तर्कों का आश्रय लेकर पण्डितमानी हो जाते हैं। (अपनेआप को विज्ञ मानते हैं।) ऐसा करके वे शांकरी को नहीं जान पाते—परमशिव की प्राप्ति—परमात्मसाक्षात्कार से अनभिज्ञ रहते हैं।

शांकरी मुद्रा की प्रशंसा

सा शांकरी स्तूयते (हठयोग) प्रदीपिकायाम्—
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
एकैव शांकरी (शाम्भवी) मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ (४। ३५)

हठप्रदीपिका में उस शांकरी की स्तुति की गयी है--वेद, शास्त्र और पुराण साधारण वेश्या की तरह सर्वत्र सुलभ हैं किन्तु शांकरी मुद्रा ही ऐसी है, जो, कुल-वधू कीभाँति गुप्त रहती है।

वेदादि शास्त्रों के प्रवृत्तिनिमित्तकत्व का निर्धारण

ऋग्यजुरादयो वेदा धर्मार्थकाममोक्षोपदेष्टारो ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थ भिक्षुकाश्रमोपदेष्टारश्च भवन्ति। ते च मुख्ये वस्तुनि गौणत्वमापाद-यन्त्यमुख्ये च मुख्यत्वमतो यत्र तादृशा अधिकारिणो बहवो लग्नास्ते चोत्तम-पुरुषैरसेवनीया द्रव्यस्पृहाप्रवृत्तावेवासक्ता भवन्ति। शास्त्राणि च वैशेषि कादीनि। तैर्भ्रममूलकैः कदापि विश्रान्तिर्नास्ति। पुराणानि च नरानात्म साधनेष्वशक्तत्वं प्राय आपादयन्ति। यतो बालकानामिरुचिरतरासु कथासु लोकानां चित्तवृत्तिं गमयन्ति। तेऽपि सर्वे सामान्यगणिका इव

भवन्ति। तद्यथा–गणिकागृहे शृंगारप्रधाना एव वार्त्ता मुख्याः स्युरीश्वरी वार्त्ता तु गौणी, ताश्च गणिका बह्व्यो बहूनां धूर्तानां लम्पटानामुपरि चासक्ता भवन्त्यः सत्यवादिनामकामिनां प्रियेश्वरकथानामुपरि नासक्ति कुर्वन्ति, इति।

ऋक्, यजुः आदि वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपदेष्टा तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमों के भी उपदेशक हैं। वे मुख्य वस्तु में गौणता और गौण में मुख्यता का प्रतिपादन करते हैं, इसलिये जिनमें वैसे बहुत-से अधिकारी लगे हुए हैं, वे उत्तम पुरुषों के द्वारा सेवन करने योग्य नहीं हैं। वे तो द्रव्य-प्राप्ति की प्रवृत्ति में ही आसक्त रहते हैं। वैशेषिक आदि शास्त्र हैं। वे सभी भ्रममूलक हैं, ! अतः उनके द्वारा कभी भी विश्राम नहीं प्राप्त हो सकता। पुराण प्रायः आत्मसाधनों में मनुष्यों की अशक्तता का ही प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि वे बालकों की भाँति लोगों की चित्तवृत्ति को सुन्दर-सुन्दर कथाओं के श्रवण में ही प्रेरित करते हैं, इसलिये वे सभी (इस तरह) साधारण वेश्या के समान होते हैं, जिस तरह वेश्या के घर में शृङ्गारप्रधान वार्ताएँ ही महत्वपूर्ण समझी जाती हैं और ईश्वरसम्बन्धी वार्ता तो गौण ही होती हैं तथा वे बहुत-सी वेश्याएँ अधिकांश धूर्तों एवं लम्पटों पर ही आसक्त रहती हैं, ईश्वरकथा (चर्चा) के प्रेमी; सत्यवादी एवं कामविजयी (जितेन्द्रिय) जनों में आसक्त नहीं होतीं।

भोग की अपेक्षा योग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन

किंच इह खलु संसारे योगो भोगश्चद्वौ पदार्थौ स्तः। एवद्द्वयं विना किमपि न स्यात्, सर्वस्याप्येतयोरन्तभूतत्वादिति। तयोर्मध्ये योगे लग्ना महासिद्धाः, भोगे तु सर्वे संसारिणः। योगस्य फलं मुक्तिर्भोगस्य तु बन्ध इति। यद्यपि भोगाद्बन्धस्तथापि नानाविलासैर्विषयानन्दं विलुण्ठयति। यदि दुःखमपि भवेत्तर्हि भवतु नामेति। योगिनां तु पुनः प्रथमतः किञ्चिच्छ्रमो भवेत् 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्' इत्याद्युक्तत्वादिति पश्चात् महानानन्दः। तत्र बहवः कथयन्ति किञ्चिदिति कथम् योगे तु क्लेशोऽधिकतर इत्युक्तम्। तदुपरि मया कथ्यते-भो पुरुषा! गुरुहीनानां तेषां कष्टं भवेत्, यदा तादृशः पूर्वोक्तः पूर्णो गुरुर्लभ्येत तदा महदपि कष्टमिति स्वल्पं भवेत्। तत्र दृष्टान्तः-यथा महाभारयुक्ता या शिला भवेत् तस्या उत्थापने सहस्राणामपि पुरुषाणां कष्टं भवेत्, सा च बुद्धिमता पुरुषेण

कृतकाष्ठादियत्नेनाप्रयासेनैवोत्थाप्यते, तथा गुरुमय्या कुञ्चिकया स्वल्पेनापि कष्टेन सहजसिद्धिर्भवति, यदि च महत्कष्टमपि भवेत् तदा कष्टोत्तरे तु महानानन्दो भवत्येव, यस्त्वखण्डैकनाथरूपो भवति। ब्रह्माविष्ण्वाद्यधीश्वरो भवति। नानारूपो भवति। ब्रह्मादयः सर्वे तस्य पूजां कुर्वन्ति, योगारूढो नानाभोगान् भुनक्ति, न तु तैर्लिप्यते, योगं विना भोगी रोग्येव स्यात्, भोग्यपि योगी संसारीव दृश्यते, न तु संसारीव बन्धनं प्राप्नोति।

इस संसार में योग और भोग नामक दो पदार्थ हैं। इन्हीं दोनों में सब कुछ अन्तर्भूत (विद्यमान) है, इसलिये इन दोनों के बिना कुछ भी नहीं रह सकता। उन दोनों के मध्य में योग में महासिद्धगण तथा भोग में समस्त संसारी जीव प्रवृत्त हैं। योग का फल मुक्ति और भोग का फल बन्धन है। यद्यपि भोग से बन्धन की प्राप्ति होती है, तथापि जीव अनेक प्रकार के भोग-विलास के द्वारा विषयानन्द को ग्रहण करता ही है। विषयभोगों के सेवन में सुख मानता है। उससे यदि दुःख भी प्राप्त हो, तो होता रहे। योगियों को तो पहले-पहल कुछ-न-कुछ परिश्रम होता ही है, (गीता) में कहा गया है। उन सच्चिदानन्द निराकार परमेश्वर में आसक्त चित्तवालों को (साधन में) विशेष क्लेश अर्थात् परिश्रम होता है। किंतु बाद में महान् आनन्द प्राप्त होता है। इस विषय में बहुत से लोग कहते हैं कि 'किञ्चित्' अर्थात् 'कुछ' कैसे कहा गया; क्योंकि योग-साधन में तो विशेष परिश्रम होता है—ऐसा कहा गया है। इस पर मेरा कहना है कि 'हे मनुष्यो! जो गुरु से हीन अर्थात् सद्गुरु के आश्रय से रहित हैं, उन्हीं को कष्ट होता है। जब पूर्वोक्त पूर्ण शक्ति-सम्पन्न अवधूत गुरु की प्राप्ति हो जाती है, तब महान्-से-महान् कष्ट भी अत्यन्त थोड़ा हो जाता है। इस विषय में एक दृष्टान्त है—जिस प्रकार जो शिला बहुत भार से युक्त होती है, उसे उठाने से हजारों मनुष्यो को भी कष्ट होता है, किंतु अकेले बुद्धिमान् पुरुष द्वारा काष्ठ आदि का साधन जुटा लेनेपर बिना प्रयास के ही वह उठा ली जाती है, इसी प्रकार गुरुमयी कुञ्जिका की सहायता से थोड़े से ही कष्ट से सहज ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। यदि महान् कष्ट भी हो, तो कष्ट के समाप्त हो जाने पर महान् आनन्द तो होता ही है, जो अखण्ड एवं एकमात्र नाथ-स्वरूप होता है। वह ब्रह्मा और विष्णु आदि का भी अधीश्वर होता है। अनेक प्रकार का होता है, अनेक रूप में योगसिद्धिसम्पन्न होता है। ब्रह्मा आदि समस्त देवगण उसकी पूजा करते हैं। वह योगस्थ होकर अनेक प्रकार के भोगों का आनन्द लेता है, किंतु उनमें लिप्त—आसक्त नहीं होता। भोगी योग के बिना रोगी ही रहता है, परन्तु योगी भोगी होते हुए भी संसारी की भाँति भले ही दिखायी देता

हो, किंतु जितेन्द्रिय और योगतत्त्वज्ञ होने से संसारी की तरह बन्धन को नहीं प्राप्त होता—जीवन्मुक्त रहता है।

योग-साधना में कर्मादि उपासनाओं की असमर्थता

ननु केचिच्छास्त्रिणः कर्माद्युपासनं साधनं कथयन्ति, तदा मया कथ्यते—तेषां कथनं मया न निवार्यते, तदेव कुर्वन्तु नाम, परन्तु तत्करणे फलं किमिति। कथं कर्मणामवधिर्मीमांसकास्ते तु पठनपाठनोत्तरं पठन-पाठनदोषनिवृत्त्यर्थमिष्टस्मरणं कुर्वन्ति। यस्य शास्त्रस्य पठने पाठने चापि दोषस्तस्य सेवनेन किं भविष्यतीति। पुनर्थं स्वामिनं भजेत् स स्वतन्त्रो भवेत्, यश्च प्रसन्नः स्वयमेव यदिच्छति तद्ददाति मन्त्रिभ्यः। अन्यस्य तु पुरुषस्य न कस्याप्यपेक्षां करोति, अयं देहः कर्मरचितः, कर्माणि च सर्वाणि त्रिगुणानां सन्ति, गुणाश्च मायायाः। एवं च यद्यनेन प्राणिना प्रारब्धं कर्माभिमतं तदा मायाभिमता, तदभिमाने च तत्रैव समये ब्रह्मतत्वात् पृथग्भूतः। ततश्च पूर्वं पश्चादपि गुणलेशो विद्यत एव, स च बाधक एव, तस्मात्प्रारब्धकर्मनिमूर्लकरणमवधूतानामेव कर्म।

यदि अनेक शास्त्रवेत्ता कर्मादि की उपासना को साधन बतलाते हैं तो मेरा कहना है कि मैं उनके कथन का निवारण तो नहीं कर सकता (उन्हें ऐसा करने से रोक तो नहीं सकता), वे वैसा ही करें, परन्तु वैसा करने से क्या फल प्राप्त होगा (यह विचारणीय है)। मीमांसकों के कर्मों की अवधि किस प्रकार मानी जा सकती है, क्योंकि वे तो पठन-पाठन के पश्चात् पठन-पाठन के दोष की निवृत्ति के लिये इष्टदेवका स्मरण करते हैं। जिस शास्त्र के पढ़ने और पढ़ाने में भी दोष हो तो उसके सेवन से क्या लाभ होगा? और भी—जिस स्वामी की सेवा करे, उसे स्वतन्त्र होना चाहिये। जो प्रसन्न होकर स्वयं ही अपने इच्छानुसार मन्त्रियों को दे डालता हो, किसी भी अन्य पुरुष की अपेक्षा न करता हो। यह शरीर तो कर्मानुसार निर्मित है, सम्पूर्ण कर्म सत्त्व-रज-तम—इन तीनों गुणों के ही हैं और गुण माया के वश में हैं। इस प्रकार यदि इस प्राणी ने प्रारब्ध कर्म को स्वीकार कर लिया तो उसके द्वारा माया भी—मान ली गयी और माया के मान लेनेपर उसी समय वह ब्रह्मतत्त्व से पृथक् हो गया। उसके पूर्व एवं पश्चात् भी गुणों का अस्तित्व है ही और वह बाधक ही है, इसलिये प्रारब्ध कर्म को निमूर्ल करना अवधूत योगियों का ही कार्य है।

योग-साधन के प्रति ज्ञान का खण्डन

वेदान्ती चित्तशुद्धयर्थं कर्माभिमत्य तदनन्तरं ज्ञानं साधनमित्युपदिशति, अतः सोऽपि सापेक्ष एव । मीमांसको मन्त्रीव राजसापेक्षो वेदान्ती च राजवन्मन्त्रीसापेक्षः, परन्तु सापेक्षता तूभयोरेवास्ति, कस्याप्यपेक्षामकुर्वन् योग आवश्यकः सर्वेषां कर्तव्यो यः सर्वदा स्वतन्त्रोऽस्ति ।

वेदान्ती चित्त की शुद्धि के लिये कर्म को स्वीकार करके उसके बाद, 'ज्ञान साधन है'—ऐसा उपदेश करता है, इसलिये वह भी सापेक्ष ही है । मीमांसक मन्त्री की भाँति राजा की अपेक्षा करता है और वेदान्ती राजा की तरह मन्त्रीकी अपेक्षा रखता है, इस तरह सापेक्षता तो दोनों में ही है, परन्तु योग (का साधन), जो सर्वदा स्वतन्त्र है, किसी की भी अपेक्षा नहीं करता, अतः वह सभी के लिये ही आवश्यक कर्तव्य है--सभी प्राणी स्वतन्त्र (स्वापेक्ष) योग का अभ्यास कर तत्वज्ञान से सम्पन्न हो सकते हैं ।

प्रकृति-विकार होनेके कारण द्वैत-अद्वैत की व्यर्थता

मीमांसको द्वैतमभिमन्यते, वेदान्ती त्वद्वैतमभिमन्यते, तदुपरि वयं वदामः—एतदुभयमपि प्रकृतिविकारः । प्रकृतिविकारश्च सर्वदा चञ्चलोनास्ति कदापि स्थिरः । ब्रह्म तु सर्वदा स्थिरमेवास्ति ।तत्र द्वैतवादिनो निश्चलं नास्तीति वदन्ति, तथैवाद्वैतमभिमन्यतां निश्चलं नास्तीति कथम् ?

मीमांसक द्वैत स्वीकार करता है तो वेदान्ती अद्वैत को मानता है; इसपर हम कहते हैं कि ये दोनों ही (द्वैत-अद्वैत) प्रकृति के विकार हैं । प्रकृतिविकार सर्वदा चञ्चल रहता है, वह कभी भी स्थिर नहीं रहता; किंतु ब्रह्म तो सर्वदा स्थिर ही रहता है (अविकृत होता है) । इस विषय में द्वैतवादी कहते हैं कि ब्रह्म निश्चल नहीं है, उसी प्रकार अद्वैतवादी भी कहते हैं कि ब्रह्म निश्चल नहीं है—यह किस तरह सम्भव है ?

यदि ब्रह्माद्वैतमस्ति तर्हि द्वैतं कुत आगतम् ? तदा मायाकल्पितमिति ते वदेयुस्तर्हि तान्वदतो वयमवाचोऽक्रियांश्च कुर्मः, तत्किमिति चेदुच्यते—अद्वैतं तु निष्क्रियादि त्याज्यस्ति । यतः कस्यापि वस्तुनो भोगोऽपि युष्माभिर्न कर्तव्य इत्याद्यनेकविधिभिरद्वैतखण्डनं करिष्यामः । महासिद्धै

रुक्तम्—यद् द्वैताद्वैतविवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यते तदेव सत्यमित्यभ्युपगमिष्याम: तत्तूग्रभैरवनामककापालिकरूपतः श्रीभैरवेण शंकराचार्योपरि कृतम् ।

यदि ब्रह्म अद्वैत है तो द्वैत कहाँ से आ गया ? तब यदि 'वह माया-कल्पित है' ऐसा वे कहते हैं तो इस प्रकार कहनेवाले को (उनको) हम मौन और निष्क्रिय कर देंगे । तब वह क्या है ?—बतलाते हैं—अद्वैत तो 'निष्क्रिय आदि गुण-सम्पन्न त्यागी है । क्योंकि तुमलोगोंको किसी भी वस्तुका उपभोग नहीं करना चाहिये,' इत्यादि अनेकों अद्वैतपरक विधि-वाक्योंद्वारा हम अद्वैत का खण्डन करेंगे । महासिद्धों ने कहा है कि जो द्वैत और अद्वैत से विवर्जित (विलक्षण) निश्चल पद दीखता है, वही सत्य है और हम उसीको प्राप्त करेंगे । श्रीभैरवने उग्रभैरव नामक कापालिक का रूप धारण कर शंकराचार्य के ऊपर उसीका प्रयोग किया था ।

शंकराचार्य द्वारा योगोपदेश-ग्रहण

कथम् ? चतुर्भिः शिष्यैः संयुक्तः शंकराचार्यो नदीतीरे स्थितः । तस्मिन्स्थले कापालिकः समुपागत्योक्तवान्-भोः, त्वं तु संन्यासी, मित्रारिपक्षे तुल्यः, सुखदुःखादिद्वन्द्वपदार्थरहितोऽस्यस्माकं चायमभिप्रायो वर्तते-यत् तव शिर उच्छिद्य पश्चात् श्रीभैरवार्पणं करिष्यामि तदा मम प्रतिज्ञा पूर्णा भविष्यति, अतो भवान् शिरो ददातु-इति । तदा शंकराचार्येणालोचितं नैवं करिष्यते तदा त्वद्वैतहानिः शत्रु-मित्रपक्षे तुल्यत्वं न स्यात्, कृते च पराजयो भवेत् । एतद्द्वयविचारेऽपि पराजय एवेति मत्वा न किमपि तेनोक्तम् । शैथिल्यं जातम् । तदा पद्मपादाचार्येण नृसिंहस्मरणं कृतम् । उग्रभैरवोपरि नृसिंहेन प्रहारः कृतो यस्तु महासिद्धस्तच्छरीरं त्यक्त्वा तादृशमेव च शरीरं गृहीत्वा सम्मुखे संस्थितो भूत्वा प्रसन्नवदनो मेघगंभीरया गिरोवाच—भोः, अद्वैतपराजयोऽद्वैतपराजय इति । शत्रु-मित्रपक्षे तुल्यत्वं यदवदस्तत्कुत्र गतमद्वैतमेवाद्वैतमेवेति यदवदस्तत्कुत्र गतम् । मदीयं तु यथा मल्लो नियुद्धे स्वयमेव निपत्यान्यस्य पातनं करोति तथा स्वशरीरं त्यक्त्वा परसिद्धान्तहानिः कृतैवेति चरितं पुनः साम्प्रतं त्वदीयहानिरतः परमपि क्रियते । उत्तिष्ठोत्तिष्ठ युद्धं कुरु इत्याह, तदा प्रारब्धकर्माचरणं वर्त्तते न्यासिनां मते यतः क्रियाकरणमिति सिद्धान्तो नास्तीति कृत्वा युद्धेऽशक्तो जातः । कापालिकोपदेशेनाक्रियैव स्वसिद्धान्तेऽद्वैतस्थितिवत्स्थितः । तदा कापालिकेन योगमाया निर्मिता, तया च चतुः शिष्य-

संयुक्तस्याचार्यस्य मस्तकं छिन्नम्, पश्चाच्च सञ्जीवितः कृतस्तर्हि विरागो जातः। पश्चिमायां दिशि गतः शक्ति-स्मरणं कृतवान्।

किस प्रकार किया था ? (इसका वर्णन् करते हैं-) शंकराचार्यं चार शिष्यों के साथ नदी तट पर बैठे थे। कापालिक उस स्थान पर पहुँचकर बोला-अरे, तुम तो संन्यासी हो, शत्रु और मित्र के प्रति एक समान हो और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वात्मक विषयों से रहित हो, हमारा यह अभिप्राय है कि मैं तुम्हारे सिरको काटकर तत्पश्चात् उसे श्रीभैरव को अर्पण करूँगा ! और तब मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण होगी, अतः आप अपना सिर मुझे दे दीजिये। तब शंकराचार्यने विचार किया कि मैं यदि ऐसा नहीं करूँगा तो अद्वैत-मत की हानि होगी तथा शत्रु और मित्र के प्रति समता विनष्ट हो जायगी और यदि करता हूँ तो पराजय प्राप्त होगी। इस तरह इन दोनों प्रकार के विचारों में भी पराजय ही है, ऐसा मानकर उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। वे मौन हो गये। तब पद्मपादाचार्य ने भगवान् नृसिंहका स्मरण किया। नृसिंह भगवान् ने उग्र भैरव पर प्रहार किया। तब जो महान् सिद्ध थे, उन पद्मपादाचार्य ने अपने शरीरका त्याग करके उसी प्रकार (उग्र भैरव) का शरीर धारण कर लिया और मुसकराते हुए सम्मुख उपस्थित होकर मेघके समान गम्भीर वाणी से बोले--अरे, अद्वैत पराजित हो गया, अद्वैत पराजित हो गया ! तुम शत्रु और मित्र के प्रति जिस समानता का निरूपण करते थे, वह निरूपण अथवा कथन कहाँ चला गया ! अद्वैत ही है, अद्वैत ही है- ऐसा जो तुम्हारा कथन था, वह कहाँ गया ! मेरे चरित्र ने तो जिस तरह मल्ल कुश्ती लड़ते समय पहले स्वयं ही गिरकर तत्पश्चात् प्रतिपक्षी को गिराता है, उसी तरह अपने शरीर का त्याग कर दूसरे के सिद्धान्त की हानि ही की है। इस समय तो तुम्हारी हानि ही है, पुनः इससे आगे भी हानि है। इसलिये उठो, उठो, हम दोनों युद्ध करें। इस प्रकार कहा। तब प्रारब्ध कर्मका सम्पादन करना तो वर्तमान है ही, किन्तु संन्यासियों के मतमें 'कर्म करना ही चाहिये' यह सिद्धान्त नहीं है-ऐसा मानकर वे युद्ध करने में असमर्थ हो गये। कापालिक के उपदेश से अपने सिद्धान्त में निष्क्रिय होकर ही अद्वैत प्रतिपादित स्थिति में ही रह गये। कापालिकने योग-माया उत्पन्न की। उसने (योगमायाने) चारों शिष्योंसहित आचार्यका मस्तक काट डाला, तत्पश्चात् पुनः उन्हें जीवित कर दिया। इससे शंकराचार्य को विराग हो गया। वे पश्चिम दिशा की ओर चले गये और वहाँ उन्होंने शक्ति का स्मरण किया।

पूर्ववार्ता। शंकराचार्यस्योत्पत्तिर्दक्षिणस्यां दिशि। तत्र तु कर्मसेवनमेव कृतं विष्णूपासनादि। यदा चित्तशान्तिर्न जाता तदा पृथ्वीप्रदक्षिणाकरणार्थं-

प्रयाणं कृतम् । पूर्वस्यां दिशि चागत्य तत्र वैद्यनाथाख्यस्थलं गत्वा पूजां चकार । तदेश्वरेणनाङ्गीकृता पूजा । किमर्थं त्वया विष्णुभक्तिरेव कृता । अहं तु साक्षादीश्वरः स तु त्वया विस्मृत इति । तदा शंकरेणापराधक्षान्त्ये-येऽपराधक्षमापननामकं स्तोत्रं कृतम्, पुनरपि शिवभक्तिविशेषेण कृता, तथापि चित्तशान्तिर्न जाता । पश्चाच्च पश्चिमां दिशं गतस्तत्र शक्तिरहितो जातः, शक्तेवृत्तान्तं दृष्टम् । तदा शक्त्योक्तं शिव एव सर्वं करिष्यतीति । तेन भयाकुलो जातः सौन्दर्यलहरी नामकं स्तोत्रं कृत्वा शाक्तो जातस्तथापि पूर्णां शान्तिर्नजाता । तत उत्तरां दिशं गतः । सा तु महासिद्धसमुदायेन सर्वापि दिग्व्याप्ता । यत्र यत्रगतस्तत्र सर्वैरुपहासः कृतस्तत्र श्रीतारानाथे-नोक्तम्-तीर्थाटनमेव करिष्यते वा किमप्यात्मसाधनमपि करिष्यते ! तदा शंकरेणोक्तंभवद्भिर्यत्कथ्यते, तन्मया करिष्यते । तदा महासिद्धेन योगोपदेशः कृतस्तेन सर्वाबाधानिवृत्तात्मा च प्रसन्नो जातस्तदा वज्र-सूचिकोपनिषद् कृता । सा तु सर्वापि नाथमार्गानुसारिण्येव । तत्र श्रीसिद्ध-सिद्धान्तपद्धति-प्रमाणं दत्तं-वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिः इत्यादि तस्मात्सिद्ध-मतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत् इत्यन्तानि पद्यानीति' यथा मण्डनमिश्रः सुरेश्वराचार्यो जातस्तथायमपि सिद्धो भूत्वा सिद्धान्तबिन्दुप्रभृति-ग्रन्थांश्चकार ।

शंकराचार्य का पूर्व वृत्तान्त निरूपित है—शंकराचार्य का जन्म दक्षिण (भारत) में हुआ था । अपने जन्म-स्थान में वे विष्णु-उपासना आदि कर्मों के सेवन में ही तत्पर थे । जब उन्हें मन में शान्ति नहीं मिली, तब वे पृथ्वी की प्रदक्षिणा के लिये चल पड़े और पूर्व दिशा में आकर वैद्यनाथ-नामक स्थान-पर (धाम में) उन्होंने शिवजी की पूजा की, परमेश्वर ने उनकी पूजा स्वीकार नहीं की और कहा—'तुमने क्यों केवल विष्णु की ही भक्ति की ? साक्षात् परमेश्वर तो मैं हूँ, तुमने मेरा विस्मरण कर दिया ।' शंकराचार्य ने अपराध को क्षमा करने के लिये (शिव के प्रसन्नतार्थं) 'अपराध-क्षमापन'–नामक स्तोत्र की रचना की और पुनः विशेषरूप से शिवजी की भक्ति भी की, फिर भी मन को शान्ति न मिली । इस के बाद वे पश्चिम दिशा में गये, उस स्थान पर वे शक्तिहीन हो गये, तब उन्होंने शक्ति के वृत्तान्त (लीलाचरित्र) का दर्शन किया । उस समय भगवती शक्ति ने कहा—शिवजी ही सब कुछ करने में समर्थ हैं; इससे शंकराचार्य भयभीत हो गये और 'सौन्दर्य लहरी'—नामक स्तोत्र की रचना करके शाक्त (शक्ति के उपासक) बन गये, फिर भी पूर्ण शान्ति नहीं प्राप्त हो सकी । उसके बाद शंकराचार्य उत्तर दिशा में आये । वह समूची दिशा तो बड़े-बड़े सिद्धों के समुदाय

से व्याप्त थी। (उत्तराखण्ड में बड़े-बड़े सिद्ध रहते थे।) वे जिन-जिन स्थानोंपर गये, सभी लोगों ने उनका उपहास ही किया। उसके बाद उसी स्थानपर श्रीतारानाथ ने उनसे कहा--'तीर्थाटन में ही तत्पर रहोगे अथवा कुछ आत्मसाधन भी करने की इच्छा है।' शंकराचार्य ने कहा-'आप लोगों का जो आदेश होगा, मैं उसका पालन करूँगा।' तब महासिद्ध श्रीतारानाथ ने उन्हें योग का उपदेश किया। उस उपदेश से शंकराचार्य की आत्मा समग्र बाधाओं से निवृत्त हो गयी और वे प्रसन्न हो गये (उनके मन को शान्ति मिली।) उसी समय उन्होंने 'वज्रसूचिकोपनिषद्' की रचना की। वह पूरी-की-पूरी उपनिषद् नाथ-मार्ग का ही अनुसरण करनेवाली है। (सिद्धमत की ही प्रतिपादिका है।) उसमें 'श्रीसिद्ध-सिद्धान्तपद्धति के' 'वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिः' से लेकर 'तस्मात्सिद्धमतं स्वभाव-समयं धीरः परं संश्रयेत्' तक के पद्य (वचन) प्रमाण रूपमें उद्धृत किये गये हैं। जिस प्रकार मण्डनमिश्र सुरेश्वराचार्य हो गये थे, उसी प्रकार शंकराचार्य ने भी सिद्ध (योगमहाज्ञान में दक्ष) होकर 'सिद्धान्तविन्दु' आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया।

सिद्धान्त शब्द की निरुक्ति (तात्पर्य)

सिद्धान्तस्तु सिद्धस्य तात्पर्यार्थ एव सिद्धान्तो न तु वादि-प्रतिवादिभिर्निर्णीतोऽर्थः सिद्धान्तः। तन्मध्ये न चैकं तदन्यद्द्वितीयं कुतः स्यात्तत्तु द्वैताद्वैतविलक्षणत्वेनैव सिद्धान्तो जातः। न्यासिनां त्वद्वैतमेव सिद्धान्तो भवतीत्येषा रीतिर्विज्ञेया।

सिद्धान्त का स्वरूप-सिद्ध का तात्पर्यार्थ ही सिद्धान्त है, वादी-प्रतिवादियों द्वारा निर्णीत अर्थ सिद्धान्त नहीं है। उन दोनों में जब एक नहीं हैं, तब अन्य द्वितीय कहाँ से हो सकता है। वह तो द्वैत और अद्वैत से विलक्षण होने के कारण ही सिद्धान्तरूप से विख्यात है। संन्यासियों के मत में तो अद्वैत ही सिद्धान्त होता है—ऐसी रीति समझनी चाहिये।

अन्यैः सिद्धान्तः कथ्यते। तेषां मुख्ये सिद्धान्तशब्दप्रवृत्तिर्महासिद्धानां मुखादागतोऽन्यमुखे सिद्धान्तः केवलं रूढित एव। सिद्धानां मते रूढियौगिकं च द्वयमपि वर्तते। तर्हिसिद्धान्तः सिद्धस्यैव तात्पर्यम्। एतत्कारणात् सिद्धस्यैव सिद्धान्तो न त्वन्यस्यात एव शंकरेण सिद्धान्तबिन्दुः कृतः।

दूसरे लोग सिद्धान्त के विषय में कहते हैं—उनके मत में 'सिद्धान्त' शब्द की प्रवृत्ति मुख्य रूप में होती है। महान् सिद्धों के मुख से निकला हुआ (उच्चरित)

सिद्धान्त दूसरे के मुख में केवल रूढि के अनुसार ही पड़ता है-दूसरे के द्वारा रूढ़ि शब्द के रूप में हीं ग्रहण किया जाता है। परन्तु सिद्धों के मत में रूढि और यौगिक—दोनों ही वर्तमान रहते हैं, इसलिये सिद्ध का ही तात्पर्य सिद्धान्त होता है। इस कारण सिद्ध का ही सिद्धान्त होता है, दूसरे का नहीं; इसीलिये शंकराचार्य ने 'सिद्धान्तबिन्दु' की रचना की।

प्रथमं तु दक्षिणदेशे कर्मसेवने विष्णूपासना कृता, पश्चात्पूर्वदेशे शिवदर्शने संन्यासो गृहीतः, पश्चिमे च शक्तिदर्शने शाक्तो जातस्तन्त्र-विषयकं प्रपञ्चसारादिग्रन्थं कृतवान्, पश्चादुत्तरदेशे सिद्धोपदेशेनावधूता-वस्था गृहीता। तेन सर्वं श्रेयो जातमिति।

शंकराचार्य ने पहले तो दक्षिण दिशा में ही कर्मयोगका आश्रय ग्रहण कर भगवान् विष्णु की उपासना की, उसके बाद पूर्वदिशा में जाकर शिवजी का दर्शन करने पर संन्यास ग्रहण किया और उसके बाद पश्चिम दिशा में जाकर शक्ति का दर्शन होने पर उन्होंने शाक्त-मत स्वीकार कर लिया तथा 'प्रपञ्चसार' आदि तन्त्र-विषयक ग्रन्थों का प्रणयन किया। उसके बाद उत्तर दिशा में जाकर उन्होंने सिद्धके उपदेश से अवधूत अवस्था ग्रहण की, अवधूत-मार्ग का वरण कर लिया; इसके फल स्वरूप उनका सब तरह से कल्याण हो गया अथवा उन्होंने परम श्रेयकी प्राप्ति की।

कापालिक मत की उत्पत्ति

ननु कापालिकप्रसंगकथनादेतेषां कापालिकमतमिति कैश्चिज्ज्ञायत इति, तत्तु नास्त्येवास्माकं मतं त्ववधूतमेव। परन्तु कापालिकमपि मतं नाथेनैव प्रकटीकृतमेतन्मार्गस्य प्रकटकर्ता नाथ एव। तदुक्तं शाबरतन्त्रे—

कापालिक-प्रसंग का वर्णन होने के कारण लोग ऐसा समझते हैं कि नाथ-मतानुयायियों का भी मत कापालिक है, पर उनका ऐसा समझना ठीक नहीं है। हम लोगों का तो अवधूत मत ही है। यह अवश्य है कि कापालिक-मत भी नाथ द्वारा ही प्रकट किया गया है। उस मार्ग के प्रवर्तक नाथ ही हैं। ऐसा शाबरतन्त्र में कहा गया है—

आदिनाथो ह्यनादिश्च कालश्चैवातिकालकः।
करालो विकरालश्च महाकालश्च सप्तमः॥
कालभैरवनाथश्च बटुकस्तदनन्तरम्।

भूतनाथो वीरनाथः श्रीकण्ठो द्वादशो मतः ॥
एते कापालिकाः प्रोक्ता वीरतुम्बीमहाफलैः ।
शिष्याणां सूर्यसंख्या च तानहं वच्मि संश्रृणु ॥
नागार्जुनो जडभरतो हरिश्चन्द्रस्तृतीयकः ।
सत्यनाथो भीमनाथो गोरक्षश्चर्पटस्तथा ॥
अवद्यश्चैव वैराग्यः कन्थाधारी जलन्धरः ।
मार्गप्रवर्तका ह्येते तद्वच्च मलयार्जुनः ॥

आदिनाथ, अनादि, काल, अतिकाल, कराल, विकराल, सातवें महाकाल कालभैरवनाथ, उनके बाद बटुक, भूतनाथ, वीरनाथ और बारहवें श्रीकण्ठ—ये सभी वीर-भाव की साधना, तुम्बी और महाफल से युक्त योगियों द्वारा कापालिक कहे गये हैं। इनके शिष्योंकी भी संख्या बारह है। मैं यहाँ उनके नाम बतलाता हूँ सुनो—नागार्जुन, जडभरत, तीसरे हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्ष, चर्पट, अवद्य, वैराग्य, कन्थाधारी, जलन्धर और उन्हीं के समान मलयार्जुन—ये सभी मार्गप्रवर्तक हैं।

नाथजी द्वारा शैव-शक्ति-मत का प्रवर्तन

पुनः शैवः शाक्तोऽपि मार्गस्तन्त्रानुसारी। तस्याप्युपदेष्टा नाथ एव। नाथेनैव रचितानि तन्त्राणि। तदुक्तं षोडशनित्यातन्त्रे—

पुनः शैव एवं शाक्त मत भी तन्त्र का ही अनुसरण करनेवाले हैं। उस तन्त्र के भी उपदेष्टा नाथजी ही हैं। नाथजी ने ही तन्त्रों की रचना की है। षोडशनित्या तन्त्र में ऐसा वर्णन मिलता है—

कादिसंज्ञा भवेद्रूपा सा शक्तिः सर्वसिद्धये।
तन्त्रं मदुक्तं भुवने नवनाथैरकल्पयत् ॥
तया तैर्भुवने तन्त्रं कल्पे कल्पे विजृम्भितम्।
अवसाने तु कल्पानां सा तैः सार्द्धं व्रजेच्च माम् ॥
नामपर्यायतो व्याप्तं कालावाप्तमिदं द्वयम्।
प्रसिद्धं बाह्यतो यच्च त्रीणि नामानि साधके ॥
नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे।
विद्यावतारसंसिद्ध्यै स्वीकृतानेकविग्रह ॥

नवाय नवरूपाय परमार्थैकरूपिणे।
सर्वाज्ञानतमोभेदभानवे चिद्घनाय ते॥
स्वतन्त्राय दयाक्लृप्तविग्रहाय रसात्मने।
परतन्त्राय शाक्तानां भव्याय भव्यरूपिणे॥

जिसकी पारिभाषिक संज्ञा 'आदि' है, वह शक्ति समस्त साधकों को सिद्धि प्रदान करने के लिये रूप धारण करती है और मेरे द्वारा उपदिष्ट तन्त्र का लोक में नौ नाथों के सहयोग से विस्तार करती है। इस तरह प्रत्येक कल्प में वह नौ नाथों को साथ लेकर लोक में तन्त्र (-ज्ञान) को विकसित करती है और कल्पों की समाप्ति होनेपर वह उन नाथों के साथ ही मुझ में अन्तर्लीन हो जाती है। ये दोनों कालक्रमानुसार नाम के पर्याय से जगत् में व्याप्त होकर बाह्यरूप से प्रसिद्ध रहते हैं तथा साधक में इनके तीन नाम प्रचलित रहते हैं। हे नाथ! आप गुरुरूपधारी शिव हैं, आप विद्या के अवतार की सिद्धि के लिये अनेक शरीर धारण करते हैं, आप सदा (नित्य) नवीन बने रहते हैं, नौ नाथ आप के ही रूप हैं, एकमात्र परमार्थ ही आप का स्वरूप है, आप सम्पूर्ण अज्ञान-अन्धकार का नाश करने के लिये सूर्य हैं, आप सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप परमात्मा और सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। आप साक्षात् दयास्वरूप हैं, आप रस हैं। सुन्दर, सौम्यस्वरूप और शाक्तों के स्वामी हैं, भगवन्! आप को नमस्कार है।'

अवधूत-मार्ग की सर्वश्रेष्ठता

पुनर्योगस्तु कस्यापि सापेक्षो नास्ति, परन्तु तान्त्रिकाणामयमेव सिद्धान्तो वर्तते यत्रोत्तरावस्थावधूत एव। तदुक्तं षट्शाम्भवरहस्ये—

पुनः योग तो किसी की भी अपेक्षा रखनेवाला नहीं है, यह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सार्वभौम (साधनमार्ग) है, परन्तु तान्त्रिकों का यह सिद्धान्त है कि उनकी उत्तरावस्था अवधूत ही है। षट्शाम्भवरहस्य में ऐसा वर्णन मिलता है—

अथान्यत्सम्प्रवक्ष्यामि सम्प्रदायस्वरूपकम्।
आदितो वैदिकः प्रोक्तस्ततो हि वैष्णवः परः॥
ततो गाणपतः प्रोक्तः क्रमेण हि मया तव।
गाणपत्यं च द्विविधं ततः सौरं प्रकीर्तितम्॥
सौराच्छ्रेष्ठं शैवशास्त्रं शैवाच्छाक्तं महेश्वरि।
शाक्ताद्वामं महादेवि श्रेष्ठं ते परिकीर्तितम्॥

वामात्तु दक्षिणं श्रेष्ठ दक्षिणाद्वीर एव तु।
अथ वीराच्चावधूतः कौलः पूर्वं प्रकीर्तितः॥
अवधूताद्दिव्यमार्गो दिव्याच्छ्रेष्ठो न विद्यते॥

(१।१४०--१४४)

'महेश्वरि ! अब मैं दूसरे प्रकारसे सम्प्रदायके स्वरूपका वर्णन करता हूँ—आदि में (यह मार्ग) वैदिक कहा गया है,उससे श्रेष्ठ वैष्णव (सिद्धान्त) है, उससे श्रेष्ठ गाणपत (गणपति की उपासना करने वालों का मार्ग) कहा गया है, गाणपत के दो भेद हैं, उससे श्रेष्ठ सौर (सूर्य की उपासना करनेवालों का मार्ग है) ऐसा मैंने क्रमशः तुम्हें बतलाया है। सौर से शैव शास्त्र श्रेष्ठ है, शैव से शाक्त (शक्ति की उपासना करने वालों का मार्ग) श्रेष्ठ है और शाक्त से वाममार्ग श्रेष्ठ है, महादेवि ! इसका भी मैंने तुमसे वर्णन किया है। वाममार्ग से दक्षिण मार्ग और दक्षिण मार्गसे वीर (शैव) मार्ग श्रेष्ठ है। वीर मार्ग से कौल-अवधूत कौलाचार-अवधूत-मार्ग श्रेष्ठ है—ऐसा पहले ही कह दिया गया है। अवधूत से श्रेष्ठ दिव्य मार्ग है, किंतु दिव्यमार्ग से श्रेष्ठ दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं ।

तान्त्रिकानुष्ठानस्य फलमपि योग एव। योगिनां पूर्वावस्थायामपि योगित्वमुत्तरावस्थ यामपि योगित्वमेव न त्ववस्थाभेदाद् गौणमुख्यभावौ। तन्त्रादि यस्य कस्यापि सापेक्षं परन्तु तान्त्रिकाणां पूर्वावस्था तन्त्रानुष्ठानं बहिरंगमुपासनं योगिनां त्वन्तरंगमुपासनम्। इयं रीतिस्तान्त्रिकाणाम् तान्त्रिकः प्रथमतो बहिरंग-पूजनं स्थूलशक्तेः करोति, पश्चादवधूतपदे प्राप्तेऽन्तरंगपूजनं सूक्ष्मशक्तेः कुण्डलिन्याः करोति। अतः कारणात्तान्त्रिकाणामपि तात्पर्यमवधूतपद एव।

तान्त्रिक अनुष्ठानका फल भी योग ही है। योगियोंका योगित्व पूर्वावस्थामें भी है और उत्तरावस्था में भी योगित्व रहता ही है, उनमें अवस्थाके भेदसे गौण और मुख्य भाव नहीं होते। तन्त्र आदि जिस-किसीकी भी अपेक्षा रखनेवाले हैं ही, परन्तु तान्त्रिकोंका पूर्वावस्थामें किया गया तन्त्रानुष्ठान बहिरंग उपासना कहलाता है और योगियोंकी पूर्वावस्थाकी उपासना ही अन्तरंग उपासना हो जाती है। तान्त्रिकोंकी रीति यह है कि तान्त्रिक पहले स्थूल शक्ति (साकार शक्ति-विग्रह) का बहिरंग पूजन करता है, उसके बाद अवधूत-पदकी प्राप्ति होनेपर सूक्ष्म शक्ति कुण्डलिनीका अन्तरंग पूजन करता है। इसी कारण तान्त्रिकोंका भी तात्पर्य अवधूत-पदमें ही सन्निहित है।

कापालिक-मतकी उत्पत्तिका कारण

कापालिको मार्गः किमर्थं प्रकटीकृतः ? इत्यपेक्षायाह–विष्णोश्चतुर्विंशतिसंख्याका अवतारा जातास्ते च कार्यान्ते मदोन्मत्ता जाताः। कथम् ? यथान्येतिर्यग्योनयो जन्तवः क्रीडाः कुर्वन्ति तथा वराहो नृसिंहश्चेत्यादयो भूदारणवन्यभयदानादिकरणे प्रवृत्ताः। पुरग्रामादिताडनं केषाञ्चित् समुद्रपातोऽपि। तत्रापि कृष्णेन व्यभिचारिभावो विशेषेण धृतः। परशुरामेणैकक्षत्रियदोषेणानेकेषां क्षत्रियाणां नाशः कृत इत्यादि विरुद्धाचारोपरि नाथेन कोपं कृत्वा चतुर्विंशत्यवतारोपरि चतुर्विंशति कापालिकरूपाणि धृतानि। धृत्वा च चतुर्विंशत्यवतारैः सह समरं कृतम्। तत्र सर्वेषामवताराणां कपालानि छिन्नानि कृतानि। स्वकरैस्तानि धृतानि। तेन कापालिका जाताः। पुनस्ते सर्वे कपालच्छेदान्मदहीना जातास्तदा वरं दत्त्वा कपालानि तच्छरीरे धृतानि तेन जीविता बभूवुरिति।

कापालिक मार्ग को प्रकट करनेका क्या कारण था ? ऐसी शंका उत्पन्न होनेपर कहते हैं—भगवान् विष्णुके चौबीस अवतार हुए, वे सभी (अवतार)-कार्यकी समाप्ति होनेपर मदोन्मत्त हो गये। यह कैसे ? (इसका उत्तर है कि) तिर्यग्योनिवाले अन्य जीव-जन्तु (पशु-पक्षी) क्रीड़ा करते हैं, उसी तरह वराह और नृसिंह आदि अवतार भी भूमिको विदीर्ण करने तथा जंगली जीवों को भयभीत करनेमें प्रवृत्त हो गये। कुछने तो नगर-ग्राम आदिको नष्ट कर दिया, तो कुछ समुद्रमें भी कूद पड़े। उनमें भी श्रीकृष्णने तो विशेषरूपसे व्यभिचारि-भावको (सर्वतन्त्रस्वतन्त्र मर्यादातीत लीला-भावको) ग्रहण कर लिया। परशुरामने एक क्षत्रियके दोषसे (माहिष्मती-नरेश कार्तवीर्य सहस्रबाहु द्वारा अपने पिता जमदग्नि को कामधेनु का अपहरण कर लेनेपर) अनेकों क्षत्रियोंका वध कर डाला। इस प्रकारके विरुद्ध आचरण से श्रीनाथ कुपित हो गये और उन्होंने चौबीस अवतारोंके प्रति चौबीस कापालिक रूप धारण कर लिया। इस तरह रूप धारण कर उन्होंने चौबीसों अवतारोंके साथ युद्ध किया। उस युद्धमें उन्होंने सभी अवतारोंके मस्तक काट गिराये और पुनः अपने ही हाथों से उन कपालोंको उनके धड़ोंपर रख दिया। इसीसे कापालिकोंकी उत्पत्ति हुई। मस्तक कट जानेके कारण उन सबका मद नष्ट हो गया था, तब श्रीनाथने उन्हें वरदान देकर उन मस्तकोंको उनके शरीरोंपर रख दिया, जिससे वे सभी जीवित हो गये।

शास्त्रके दो भेद--मोक्षरक्षक और व्यवहाररक्षक

कानिचिच्छास्त्राणि मोक्षरक्षकाणि कानिचिच्च व्यवहाररक्षकाणि तत्र मोक्षरक्षकाणि योगशास्त्राणि। व्यवहाररक्षकाणि श्रुति-स्मृत्यादीनि मुमुक्षवः पुरुषाः कोटीनां मध्ये द्वित्रा एव भवन्ति, व्यवहारिणस्तु कोटि कोटिरेवातः कारणाद्व्यवहारार्थं विधिवाक्यशास्त्राणि बहूनि सन्ति कथम्? व्यवहारिणां बाहुल्यात्। योगशास्त्रं तु सूक्ष्मम्। कथम्? मुमुक्षु पुरुषाणामल्पत्वात्। वेदादिशास्त्राणामपि योगो वर्त्तत एव, सर्वेषां तात्पर्यं योग एवास्ति, परन्त्वेतद्रीत्या यथा समुद्रे रत्नानि शंखाः पाषाण खण्डानि जलं जलजन्तवश्चेत्याद्यनेकवस्तूनि सन्ति तथा वेदादिशास्त्रेष्वपि योगादीनि सन्ति। समुद्रे चेतरवस्तु सुलभं रत्नं तु श्रमेण लभ्यते, ए वेदादिशास्त्रे व्यवहारादि सुलभं योगस्तु भूरिश्रमेण लभ्यते। योगशास्त्र तु योग एव लभ्यते, नान्यदस्ति किञ्चिदसारं यथा रत्नखनौ रत्नमेवेति।

कुछ शास्त्र मोक्षरक्षक हैं और कुछ व्यवहाररक्षक हैं। उनमें भी योगशास्त्र मोक्षरक्षक हैं और श्रुति-स्मृति आदि व्यवहाररक्षक हैं। मुमुक्षु पुरुष करोड़ोंमें दो तीन ही होते हैं और व्यवहारी करोड़ों-के-करोड़ों मिलते हैं, इस कारण व्यवहार लिए विधिवाक्य-प्रतिपादक अनेकों शास्त्र हैं। क्यों? क्योंकि व्यवहारियों (कर्ममार्गियोंकी) प्रचुरता है। योगशास्त्र तो सूक्ष्म है। क्यों? क्योंकि मुमुक्षु पु थोड़े ही (इने-गिने) मिलते हैं। वेद आदि शास्त्रोंमें भी योग (का प्रसंग) वर्तमान ही है; क्योंकि सभी शास्त्रों का तात्पर्य-प्रतिपादक योग ही है। पर उसकी प्राप्तिकी रीति यह है कि जिस तरह समुद्रमें रत्न, शंख, पाषाणखण्ड, ज और जल-जन्तु आदि अनेकों वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं, उसी तरह वेदादि शास्त्रों भी योगादि वर्तमान ही हैं। जिस तरह समुद्रमें अन्य वस्तुओंको प्राप्त करना स है, किंतु रत्न परिश्रमसे मिलता है, उसी प्रकार वेदादि शास्त्रोंमें व्यवहार आ सुलभ हैं, किंतु योग तो बड़े परिश्रमसे ही सिद्ध होता है। जिस तरह रत्न खानमें रत्न ही प्राप्त होता है, उसी तरह योगशास्त्रमें योगकी ही प्राप्ति हो है। (योगके स्वरूप का निरूपण उपलब्ध होता है।) उसमें तो कोई दूसरी अस (अनावश्यक) वस्तु (विचार या सिद्धान्त) है ही नहीं।

योगी और योग-मार्ग की श्रेष्ठता

स च योगो गुरुकृपयाल्पश्रमेणैव प्राप्तो भवेदतोऽन्यत्सर्वं परित्य योग एव सेवनीय इति। षट्शाम्भवरहस्ये—

वह योग गुरु की कृपा से थोड़े ही परिश्रमसे प्राप्त हो सकता है, इसलिये अन्य सभी का परित्याग करके (अन्य साधन-मार्गों की अपेक्षा न कर) योग का ही सेवन-अभ्यास करना चाहिये। षट्शाम्भवरहस्य में कहा गया है—

पृथ्वी कर्त्री महादेवी नाथाः शास्त्रस्य बन्धकाः।
ब्रह्मतत्वविदित्याद्याः शरभाद्यास्तु रक्षकाः॥ (१। १५६)

'महादेवी पृथ्वी कर्त्री है, नाथगण शास्त्र के प्रबन्धक हैं और ब्रह्मतत्व के वेत्ता शरभ आदि रक्षक हैं।'

ननु श्लोके तु पृथ्वी कर्त्रीत्युक्तं भवद्भिस्तु नाथः कर्त्तेत्युच्यते, तत्कथमिति चेत् ? उच्यते, 'नाथाः शास्त्रस्य बन्धकाः' इत्यनेन शास्त्र-प्रबन्धकत्वं तूक्तमेव, पुनः कर्तृत्वं तु पृथिव्या अपि नाथरूपत्वेनैव, चतुरशीतिसिद्धगणनायामादिकुमारीनामकस्य सिद्धत्वेनोक्तत्वात्। सिद्धाश्च नाथरूपत्वेन प्रसिद्धा एवेति। तथैव यत्साधनं कर्तव्यं यत्तेनव साधनेन सिद्धिर्भवेदित्येवं तु योग एव परं साधनमित्याशयेनोक्तम्। योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति श्रुतौ स्मृतौ—इति।

यदि यह कहा जाय कि उपर्युक्त श्लोक में तो पृथ्वी को ही कर्ता कहा गया है और आप लोग नाथजी को कर्ता बतलाते हैं, यह किस तरह सम्भव है ? तो इसका उत्तर देते हैं—'नाथाः शास्त्रस्य बन्धकाः'—इस कथन से नाथगण का शास्त्र-प्रबन्धकत्व तो कहा ही गया, साथ ही पृथ्वी का कर्तृत्व भी नाथरूप से ही है; क्योंकि चौरासी सिद्धों की गणना में आदिकुमारी-नाम के साधक का सिद्धरूप से वर्णन किया गया है और सिद्धगण नाथरूप से ही विख्यात हैं। उसी तरह जो साधन करने योग्य है और जिस साधन के करने से सिद्धि प्राप्त होती ही है, वह परमोत्कृष्ट साधन तो योग ही है। इसी आशय से कहा गया है कि 'श्रुति-स्मृति में योगमार्ग से श्रेष्ठ कोई अन्य मार्ग नहीं है, नहीं है।''

तद्वन्तश्च श्रेष्ठा उक्ता इति सर्वत्र लभ्यते। एवञ्च योगिनः श्रेष्ठास्तेषां श्रैष्ठ्यं गम्यत्वेनाप्याह पद्मपुराणे—

'योगसम्पन्न योगी श्रेष्ठ कहे गये हैं—ऐसे वचन तो सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार योगी श्रेष्ठ हैं और उनकी श्रेष्ठता का प्रमाण पद्मपुराण में सुगमता से मिलता है—सहज सुलभ है।

मर्यादां स्थापयामास यथास्थानं यथागुणम्।
वर्णानामाश्रमाणां च धर्माधर्मभृतां वर ॥
लोकांश्च सर्ववर्णानां सम्यग् धर्मानुपालिनाम्।
प्रजापत्यं ब्राह्मणानां स्मृतं स्थानं तु पार्थिव ॥
स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां यतीनामूर्ध्वरेतसाम्।
स्मृतं तेषां तु यत्स्थानं तदेव गुरुवासिनाम् ॥
सप्तर्षीणां च यत्स्थानं स्मृतं तद्वै वनौकसाम्।
प्राजापत्यं गृहस्थानां न्यासिनां ब्राह्मसञ्ज्ञितम् ॥
योगिनाममृतं स्थानं ब्रह्मणः परमं पदम्।
एकान्तिनः सदोद्युक्ता व्यापिनो योगिनो हि ये ॥
तेषां तत्परमं स्थानं यन्न पश्यन्ति सूरयः।
गत्वा गत्वा निवर्तन्ते चन्द्रादित्यादयो ग्रहाः ॥
अद्यापि नो निवर्तन्ते प्राणायामपरायणाः।

(पद्म० सृष्टिखण्ड ३ । १५३–१६१)

धर्म-अधर्म (श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित धर्म तथा उससे भिन्न अन्य धर्म) पोषण करनेवालोंमें श्रेष्ठ राजन् ! इस प्रकार ब्रह्माने सभी वर्णों और आश्रमों मर्यादाकी उनके गुण और स्थानके अनुसार स्थापना की। साथ ही, भलीभां धर्मका अनुपालन करनेवाले (धर्माचरण में रत) सभी वर्णों के लोकोंकी कल्पना की। भूपाल ! ब्राह्मणोंके लिए प्राजापत्य और क्षत्रियोंके लिए ऐन्द्र नाम स्थान बतलाया जाता है। जो ऊर्ध्वरेता यति हैं, उनके लिए जिस स्थानकी कल्प हुई है, वही ब्रह्मचारियों के लिये भी है तथा सप्तर्षियोंके लिए जो स्थान नि किया गया है, वही वनवासी वानप्रस्थोंके लिए भी है। गृहस्थोंका प्राजापत्य औ संन्यासियोंका ब्राह्मनामक स्थान है तथा जो ब्रह्मका अमृतस्वरूप परमपद है, व योगियों का स्थान है। जो योगी एकान्तवासी, सदा योग (के अभ्यास) में उ और सर्वत्र व्याप्त (विद्यमान) रहनेवाले हैं, उनका वह परम स्थान है, जिस दर्शन विद्वान् लोग नहीं कर पाते। सूर्य और चन्द्र आदि ग्रह वहाँ तक जा–जा लौट आते हैं, परन्तु जो प्राणायामपरायण योगी उस स्थान (परमपद) प्राप्त हैं, वहाँ से फिर नहीं लौट सके, उस पदमें में स्वस्थ हो गये।

गीतामें :—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ इति

(८ । २८

"योगी इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर वेदाध्यन, यज्ञानुष्ठान, तपस्या और दान देनेमें जो पुण्यफल कहा गया है, उस सबका अतिक्रमण कर जाता है और सनातन परमपदको प्राप्त होता है ।"

एवं सर्वनमस्कार्यमेतन्मतमिति ।

इस प्रकार यह योग-मत सभीके लिए नमस्कार करने योग्य है ।

श्रुति (वेद) के आश्रय का विवेचन

तत्र यूयं केऽपि वदेत-भवन्मते श्रुतिः साधिका नास्तीति तेषामज्ञात्वा मतरहस्यमेवं वदतां युष्माकं तात्पर्यमस्माभिर्विदितप्रायमेवेति । तदेवमस्ति । एवं प्रतोद्यमाना अपि कदाचिच्छ्रुत्याश्रयत्वमङ्गीकुर्वन्तु नामैते, किन्त्वेतत्साक्षादनिर्वचनीयं तत्सत्यस्वरूपं तत्त्वं यस्याश्रयत्वं सर्वस्य विदितमेवेति तस्यैव प्रवृत्तिशास्त्राश्रयत्वं केन प्रकारेणाङ्गीक्रियते। यदस्माकमत्र श्रुत्याश्रयाङ्गीकरणं राज्ञामिव मन्त्र्याश्रयाङ्गीकरणं भवति । तथोक्तं महाभारते मोक्षधर्मे—

आप लोगों में से ही कुछ लोग कहते हैं कि आप के मत में श्रुति साधिका नहीं है (वेदमार्ग का आश्रय ग्रहण करने का संकेत नहीं है) किंतु उनके मत का रहस्य न जानकर इस तरह कहनेवाले आप लोगों का जो तात्पर्य है, यह तो हम लोगों को प्रायः विदित ही है । वह यह है—इस प्रकार प्रेरित किये जानेपर कदाचित् ये लोग श्रुतिका आश्रय स्वीकार कर भी लें, किंतु वह साक्षात् सत्यस्वरूप तत्व, जिसका आश्रय सभी को ज्ञात भी है, अनिर्वचनीय है, फिर उसीका प्रवृत्तिपरक (आचार-व्यवहारपरक स्मृति आदि धर्म) शास्त्रों का आश्रय ग्रहण करना किस प्रकार स्वीकार कियाजा सकता है । यहाँ हम लोगों का जो श्रुतियों का आश्रय स्वीकार करना है, वह उसी प्रकार है, जिस प्रकार राजाओं को मन्त्रियों का आश्रय ग्रहण करना—मन्त्रियों के अभिमत को मानना है । ऐसा महाभारत के मोक्षधर्म-पर्व में भी कहा गया है—

ऋचो यजूंषि सामानि शरीराणि व्यपाश्रिताः ।
जिह्वाग्रेषु प्रवर्तन्ते यत्नसाध्या विनाशिनः ॥
न चैवमिष्यते ब्रह्म शरीराश्रयसम्भवम् ।
न यत्नसाध्यं तद् ब्रह्म नादिमध्यं न चान्तवित् ॥
ऋचामादिस्तथा साम्नां यजुषामादिरुच्यते ।
अन्तश्चादिमतां दृष्टो न त्वादिब्रह्मणः स्मृतः ॥

अनादित्वादनन्तत्वात्तदनन्तमथाव्ययम् ।
अव्ययत्वाच्च निर्दुःखं द्वन्द्वाभावस्ततः परम् ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सभी शरीर का आश्रय ग्रहण करनेवाले, यत्न द्वारा प्राप्त और विनाशशील हैं। ये जिह्वाग्रपर वर्तमान रहते हैं, परन्तु ब्रह्म इस प्रकार शरीर का आश्रय ग्रहण करना नहीं चाहता। वह यत्न द्वारा प्राप्य भी नहीं है। उस ब्रह्म का न आदि है, न मध्य है और न अन्त है। इधर ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—इन सब का आदि बतलाया जाता है और जो आदियुक्त हैं, उनका अन्त भी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता ही है (उनका अन्त भी अनायास सहज सिद्ध है) ब्रह्म का तो आदि है ही नहीं। वह अनादि और अन्तरहित होने के कारण अनन्त और अविनाशी कहा जाता है, इस तरह अविनाशी होने के कारण वह दुःखरहित है, इसलिये उसमें सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का नितान्त अभाव है—यह द्वन्द्वरहितता ही उसके अविनाशी अव्यय सनातन पद की परिचायिका है।'

अन्यच्च :—

अग्निर्यथाह्युपायेन मथित्वा दारु दृश्यते ।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवात्र दृश्यते ॥

और भी—जिस प्रकार अरणि आदि उपायोंद्वारा काष्ठका मन्थन करके अग्नि प्रकट की जाती है, उसी प्रकार शरीरमें व्याप्त आत्माका साक्षात्कार योगद्वारा ही किया जा सकता है।'

पुनः—आदिज्ञानी भवेद् ब्रह्मा युगादिज्ञानियोगिनः ।

फिर (यह भी कहा गया है)—यदि ब्रह्मा आदिज्ञानी है तो योगी युगादिज्ञानी हैं। गीतामें कहा गया है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥
(२।४२-४४)

'अर्जुन ! जो सकामी पुरुष केवल फलश्रुतिमें प्रीति रखनेवाले, स्वर्गको ही परम श्रेष्ठ माननेवाले तथा इससे बढ़कर अन्य कुछ नहीं हैं--ऐसा कहनेवाले हैं, वे अविवेकीलोग जन्मरूप कर्मफलको प्रदान करनेवाली तथा भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिए बहुत-सी क्रियाओंके विस्तारवाली इस प्रकारकी जो दिखाऊ शोभायुक्त वाणी कहते हैं, उस वाणीद्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है (विभ्रमित हो गया है) तथा भोग और ऐश्वर्य में जिनकी आसक्ति बनी है, उनके अन्तःकरणमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती—ये सत् तत्वका बुद्धिके द्वारा निर्णय करनेमें असमर्थ होते हैं।

प्रणवोपासकको वेदाश्रयकी आवश्यकता है या नहीं ?-प्रश्न के चार उत्तर

येन च परमवेदप्रणवस्याश्रयोङ्गीकृतो वा तेन स्थूलवेदस्याश्रयोनाङ्गी कर्तव्यः ।

जिसने परमवेदस्वरूप प्रणव (ॐ) अथवा स्वसंवेद्य-सूक्ष्मवेद का आश्रय ग्रहण कर लिया, उसे स्थूल (शब्दरूपमें प्रकट) वेद (ऋक्, यजुः, साम; अथर्व) का आश्रय ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है। उत्तर-गीतामें कहा गया है :—

चतुर्वेदविदो विप्राः सूक्ष्मब्रह्म विदन्ति न ।
वेदभारभराक्रान्तास्ते वै ब्राह्मणगर्दभाः ॥

"चारों वेदोंके वेत्ता होते हुए भी जो ब्राह्मण सूक्ष्मब्रह्म स्वसंवेद्यप्रणवको नहीं जानते, वे वेदोंके भारी भारसे उसी तरह श्रान्त रहते हैं, जिस तरह गधेको भारी बोझा ढोनेका श्रम होता है। ऐसे ब्राह्मणको स्वसंवेद्य तत्वका ज्ञान नहीं होता है।

एतदेवाभिप्रेत्य कावषेयगीतायाम्-दुर्वासा कश्चिन्मुनिर्बहुविधशास्त्र-पुस्तकभारैः सह महादेवं नमस्कर्तुमागत्य तत्सभायां नारदेन केन-चिन्मुनिना भारवाही गर्दभसाम्यमापादितः, कोपात् पुस्तकानि लवणार्णवे परित्यज्य महादेवेनात्मविद्यायां प्रवर्त्तित इति।

इसी अभिप्राय को लक्ष्य करके कावषेयगीतामें कहा गया है कि एक बार दुर्वासा-नामक कोई मुनि अनेकों प्रकारकी शास्त्रीय पुस्तकोंका भार लिये हुए महादेवजीको प्रणाम करने के उद्देश्यसे उनकी सभामें आये । उस सभामें कोई नारद नामक मुनि विराजमान थे, उन्होंने दुर्वासा मुनि के लिये भारवाही (बोझा

ढोनेवाले) गधेके विशेषणसे सम्बोधित किया। इसपर दुर्वासा मुनिने क्रुद्ध होकर सारी पुस्तकें खारे समुद्रमें फेंक दीं। इसके बाद महादेवजीने उन्हें आत्मविद्यामें प्रवृत्त किया।

गृहे गृहे पुस्तकभारभाराः पुरे पुरे पण्डितयूथयूथाः।
वने वने तापसवृन्दवृन्दा न ब्रह्मवेत्ता न च कर्मकर्त्ता॥

'घर-घरमें बोझ-के-बोझ पुस्तकें भरी पड़ी हैं, नगर-नगरमें (पण्डितोंके समूह-के-समूह) विद्वान् मिलते हैं तथा वन-वन में तपस्वीगण तपस्या में निरत हैं, परन्तु उनमें न कोई ब्रह्मज्ञानी ही हो सका, न कुशल कर्मकर्ता—कर्मयोग का मर्मज्ञ ही।

एवं बहवः प्रस्तावाः सन्तीत्येकमुत्तरम् ॥ १ ॥

इस प्रकारके बहुत-से उल्लेख मिलते हैं। यह पहला उत्तर है।

पुनर्भवद्भिस्तु श्रुतयः पुनः पुनरुच्यन्ते, तत्किमिति ? वेदास्तु कर्मनिरूपकास्तदधिकारिणामेवौचित्यं दर्शयन्ति। एते योगिनस्तु संसारत्यागिनो निष्कर्माणः। किञ्च वेदेषु मुख्यत्वेनाग्निहोत्रादियज्ञकर्माणि दृश्यन्ते, तानि चाग्निसाध्यानि, एते तु नाग्नेः स्पर्शमपि कुर्वन्ति। अग्नेरेव गृहपतित्वमाह—'अग्ने गृहपते' इत्यादि श्रुतिः। यत एतेषां किमाचरणमुपधार्यैतान् निरूपयन्ति। बाहुल्येन वेदविदश्चैते किं प्रयोजनमङ्गीकृत्याङ्गीकुर्युर्वाचोविग्लापनं हि तत् 'इत्यादि श्रुतिवाक्यैरेव 'एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति'' शब्दाद् इत्यादिपुराणवाक्यैरेव च तदनङ्गीकरणं दर्शितम्।

पुनः आपलोग बारबार श्रुति (के ही सिद्धान्त) का उच्चारण करते हैं, इसका क्या कारण है ? वेद तो कर्मोंका निरूपण करनेवाले हैं, इसलिये वे उनके अधिकारियोंका ही औचित्य प्रकट करते हैं। ये योगी तो कर्मकाण्डको नहीं स्वीकार करते एवं संसारके विषयभोग में अनासक्त हैं। वेदोंमें मुख्यरूपसे अग्निहोत्र आदि यज्ञकर्मोंके ही वर्णन दृष्टिगोचर होते हैं और वे कर्म अग्निद्वारा सिद्ध होनेवाले हैं, इधर योगी अग्निका स्पर्श भी नहीं करते। साथ ही 'अग्ने गृहपते' इत्यादि श्रुति अग्निको ही गृहपति बतलाती हैं। तब फिर वेद इन वेदज्ञोंके किस आचरणका निश्चय करके कर्मों का प्रचुरतासे निरूपण करते हैं तथा किस प्रयोजनको स्वीकार करके ऐसा प्रतिपादन करते हैं? जब कि 'वाचो विग्लापनं हि तत्'—वह वचनका विश्राममात्र है। इत्यादि श्रुति-वाक्योंद्वारा एवं 'एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति

शोकदोह'—इस प्रकार विचार कर विद्वान् लोग शब्दसमूहसे विराम ग्रहण कर लेते है।' इत्यादि पुराण-वाक्योंद्वारा उसको स्वीकार न करना ही प्रदर्शित (प्रकट) किया गया है ?

किं च 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' इति श्रुतेः ॥

और भी "यह परमात्मा न प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न अधिक शास्त्र-श्रवणसे ही प्राप्त किया जा सकता है।" ऐसा मुण्डक श्रुति (३।२।३) भी कहती है।

बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम्।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्त्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरम् ॥ इति

अनेक प्रकारकी शास्त्र-कथारूपी गुदड़ीके निरन्तर धारण (सेवन) करनेसे क्या लाभ है ? अनेक शास्त्रोंके कथनमें उलझे रहना व्यर्थ ही है। तत्त्वज्ञोंको प्रयत्नपूर्वक आन्तरिक ज्योतिका अन्वेषण करना चाहिये (ज्योतिस्वरूप अलख निरञ्जन परमेश्वर तो हमारे शरीर पिण्ड में ही विद्यमान है।)

उत्तरगीतामें—

अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा ॥ इत्यादि
(२।४१)

'जो चारों वेदों और अनेकों धर्मशास्त्रोंका अध्ययन करके भी ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सका, उसका अध्ययन उसी तरह नीरस है, जिस तरह करछी छप्पन प्रकारके व्यंजनोंका आलोडन तो करती है पर उनके स्वादसे वञ्चित रहती है।

किंचैतेषां सत्यस्वरूपभूतानां महिमानं निरूपयन्तो वेदा मुह्यन्तीव च। अवृत्तिविषयत्वात्। तथा च कर्मकाण्डे मुख्यमपि ज्ञानं मुख्यत्वेन दर्शयन्ति। दर्शिते चतस्मिन् कर्ममोह एव स्यात्। एवं ज्ञानकाण्डे च योगतन्महिम्नि दर्शिते ज्ञानं मोहः स्यात्। तथा च वेदेषु तन्महिमा नोपलभ्यते—इत्येतदेवाभिप्रेत्योद्योगपर्वणि सनत्सुजातीये प्रोक्तम्—

और भी (यह भी विचारणीय है कि)—सत्यस्वरूपभूत (परमात्मसाक्षात्कारसे सम्पन्न) इन योगियोंकी महिमाका निरूपण करते हुए वेद विमूढ़-से हो जाते हैं

(अच्छी तरह यथार्थरूप में तत्वतः योगज्ञानसिद्ध योगियों का महत्वांकन नहीं कर पाते हैं ।); क्योंकि यह उनकी वृत्तिका विषय नहीं है तथा कर्मकाण्डमें ज्ञानके मुख्य होनेपर भी वे उसका प्रधानतया प्रदर्शन नहीं करते; क्योंकि उसे उस रूपमें प्रकट करनेपर कर्म मोहरूप ही हो जायेगा । इसी तरह ज्ञानकाण्डमें योग एवं उसकी महिमाका वर्णन करनेपर ज्ञान मोहरूप हो जायेगा । (ज्ञान के इस तरह मोहरूप होनेपर योग और उसके महत्व का वर्णन नहीं हो पाता है ।) यही कारण है कि वेदोंमें उसकी महिमा नहीं उपलब्ध होती । इसी अभिप्रायके सन्दर्भमें महाभारतके उद्योगपर्वमें, सनत्सुजातीयमें कहा गया है—

ना भाति] शुक्लमिव लोहितमिवाथो कृष्णमथार्जुनं काद्रवं वा ।
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे नैतत्समुद्रे सलिलं बिभर्ति ॥
न तारकासु न च विद्युदाश्रितं न चाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य ।
न चापि वायौ न च देवतासु नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्ये ॥
नैवर्क्षु तन्न यजुःषु नाप्यथर्वसु न दृश्यते वै विमलेषु सामसु ।
रथन्तरे बार्हद्रथे वापि राजन् महाव्रते नैव दृश्येद्ध्रुवं तत् ॥
अपारणीयं तमसः परस्तात् तदन्ततोऽप्येति विनाशकाले ।
अणीयरूपं क्षुरधारया समं महच्च रूपं तद्वै पर्वतेभ्यः ॥
(३ । २०–२३)

"यह ब्रह्म न तो शुक्ल-सा प्रकाशित होता है, और न रक्तवर्ण, (लाल), श्याम, श्वेत (चाँदी के रंग के समान सफेद) या धूम्रवर्ण ही आभासित होता है । यह न पृथ्वी पर स्थित है, न अन्तरिक्ष में विद्यमान है और न समुद्र में जलरूप में स्थित है । यह ब्रह्म न तारागण में है, न विद्युत्के आश्रित है और न मेघों में ही इसका रूप लक्षित होता है । यह न वायुमें है, न देवताओंमें है, न चन्द्रमामें है और न सूर्यमें ही देखा जाता है । यह न ऋग्वेदमें, न यजुर्वेदमें, न अथर्ववेदमें और न निर्मल (अमृतरस से परिपूर्ण) सामवेदमें ही दृष्टिगोचर होता है । राजन् ! रथन्तर और बृहद्रथ सामोंमें भी यह उपलब्ध नहीं होता तथा महाव्रतशील ब्राह्मण में भी यह नही देखा जाता, यह ध्रुव, है (यह सब में विद्यमान है, और यह उपर्युक्त सभी तत्वों और पदार्थों में है पर यह नहीं कहा जा सकता है कि वह इसमें है, उसमें नहीं है ।) अज्ञानान्धकार से अतीत इस ब्रह्मका पार पाना कठिन है । अन्तमें जगत्का प्रलयकाल उपस्थित होनेपर भी यह स्थित रहता है । इसका स्वरूप क्षुरेकी धारके सदृश सूक्ष्म तथा पर्वतोंसे भी महान् है ।"—यह अणु-से-अणु और महान्-से-महान् है ।

तत्प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद्ब्रह्म तद्यशः।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात्प्रलयं यान्ति तत्र हि ॥
(४।२२)

"लोक उसीके आश्रित है, वह अमृत है, वह ब्रह्म है, वह यशस्वरूप है,
स्त भूत-प्राणी उसीसे उत्पन्न हैं और अन्तमें उसी में लीन हो जाते हैं।"

अनामयं तन्महदुद्यतं यशो वचोविकारं कवयो वदन्ति।
तस्मिञ्जगत्सर्वमिदं प्रतिष्ठितं तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

"विद्वान् कहते हैं कि वह ब्रह्म अनामय, महान्-से-महान् एवं परम यशस्वी
उसका नामकरण वाणीका विकारमात्र है। यह सारा जगत् उसीमें स्थित है;
उसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।"

ननु तद्विदुरित्यनेन योगोपसर्जनं ज्ञानमेवोक्तमिति चेन्नैतस्यैव शास्त्र-
ाग्रिमेऽध्याये—

यदि "तद्विदुः" इस कथनसे "ज्ञान ही योगका उपसर्जन कहा गया है"
ा मान लें? ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि इसी शास्त्रके अगले अध्याय
इसके समाधानके लिये—

यत्तच्छुक्लं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद्यशः।
यद्वै देवा उपासते यस्मात्सूर्यो विराजते ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥
(४।१)

इत्यादि सविस्तर मुक्तमतो ग्रन्थभारवहनं वृथैव। किन्तु तदन्तर्गतं
ोपयुक्तं सारमात्रं गुरुवाक्याद् गृहीत्वा योगेन कृतकृत्यो भवेदिति—

जो शुद्ध महान् ज्योति है, देदीप्यमान महान् यश है, देवगण जिसकी उपासना
ते हैं और जिससे सूर्य सुशोभित (प्रकाशित) होता है, उस सनातन भगवान् का
गीलोग दर्शन करते हैं।'—इत्यादि विस्तारपूर्वक कहा गया है, इसलिये ग्रन्थों
भार वहन करना व्यर्थ ही है। किंतु योगीको तो उन ग्रन्थोंके अन्तर्गत जो
रमात्र एवं अपने लिये उपयुक्त तत्व हो, उसे गुरु-मुख-से प्राप्त करके योगमार्गके
लम्बनद्वारा सफलमनोरथ होना चाहिये—

आत्मनस्तत्त्वमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु मुह्यति।
गोपः कक्षागते छागे कूपे पश्यति दुर्मतिः॥
वदन्तो वाऽऽत्मनोभावं वदन्त्युपनिषद्गिरः।
रहस्युपदिशन्त्यन्ये स्वयं नानुभवन्ति ते॥
विहाय योगशास्त्राणि नानागुरुमतानि च।
अहंकारावृताः केचिज्ज्ञात्वा शास्त्रसमुच्चयम्॥
उपदेशं न जानन्ति न च ग्रन्थशतैरपि।
इति द्वितीयमुत्तरम्॥ २॥

"जिस तरह दुर्बुद्धि (मूर्ख) गोप छागको बगलमें दबाये रहनेपर भी मो-वश कुएँमें उसकी छायाको देखता है, उसी तरह अज्ञानी मनुष्य आत्मतत्त्व न जानकर शास्त्रों के पठन-पाठन के द्वारा ही उसे प्राप्त करने के श्रम में बने रहते हैं। कुछ अन्य लोग आत्मतत्वका वर्णन करते हुए उपनिषद्वाक्यों प्रमाण देते हैं और यत्र-तत्र उसका एकान्त में अत्यन्त गुप्तरूपसे उपदेश देते हैं, कि स्वयं उन्हें उस आत्मतत्व का अनुभव नहीं हो पाता। कुछ लोग अनेकों यो शास्त्रों और गुरु-मतोंका परित्याग कर शास्त्र-समूह का अध्ययन करके अहंकार उन्मत्त रहते हैं, किंतु न तो उन्हें उपदेशका ही ज्ञान होता है और न सैकड़ों ग्रन्थों अध्ययनका तत्व ही प्राप्त होता है।" यह दूसरा उत्तर है।

पुनस्तदेवं मुख्यतयोच्यते—श्रुतिस्त्वस्मिन्नपि मते साधिकैवास्ति परन्त्वेतन्मतस्य बोधो युष्माकं नास्ति। तेन यूयं शंकरवैष्णवप्रवर्तित मार्गानुसारितत्वमालम्ब्य वदथ श्रुतिः साधिका नास्तीति। तत्सत्यं शंकररामानुजादिश्रुतयश्चात्र साधिका मा भवन्तु नाम। श्रुतयस् भविष्यन्त्येव साधिका इति।

पुनः उसीका मुख्यरूपसे वर्णन है—'श्रुति तो इस मतमें भी साधिका ही परन्तु तुमलोगोंको इस मतका ज्ञान नहीं है। इसी कारण तुम लोग शंकर ए रामानुज आदि आचार्योंद्वारा प्रवर्तित मार्गोंका अनुसरण करनेवाले तत्व अवलम्बन लेकर कहते हो कि श्रुति साधिका नहीं है। यह सत्य है, शंकर ए रामानुजआदिद्वारा कथित (प्रमाणस्वरूप उद्धृत की गयी) श्रुतियाँ इस विष में भले ही साधिका न हों, किंतु (सामान्यतः) श्रुतियाँ तो साधिका होंगी (श्रुतियों से तत्वज्ञान-प्राप्ति का सहज प्रतिपादन तो होता ही है।)

अयम्भाव :—वेदस्तु शाखाभेदैरनेकधा विस्तृतः । तत्र पञ्चाशदुप-
षदो निबन्धः कृतस्ततोऽप्यधिका उपलभ्यन्ते । परन्तु न तेन निबन्धेन
यो निर्णयव्यवहारः । तत्रापि शंकरेण दशैवाभिमता उपनिषद ईशकेने-
ादयः प्रसिद्धाः। रामानुजप्रभृतिभिस्तु दशस्वपि शंकराभिमतादन्योऽर्थ इति
ष्टमुदीर्यते । एवमन्येऽपि स्वाभिप्रायानुसारि वेदस्य तात्पर्यं वर्णयिष्यन्ति
तावता तत्तात्पर्यं तेषामेव न तु वेदस्येति । यथा विरोचनः प्रजापतिनानु-
ष्टोऽपि स्वचित्तदोषेण देह आत्मत्वबुद्धिं दृढीकृत्यासुरान् सर्वाननुशशासेति
न्दोग्ये स्पष्टाऽख्यायिकास्ति । यतो योगिनां स्थूलवेदे प्रयोजनमेव नास्ति ।
र्ववेदमूलभूत ॐकार एव प्रयोजनं तात्पर्यं च । तत्र सर्ववेदानां लयोदयो
वतः, यतः ॐकारप्रतिपादिकाः सर्वाः श्रुतयोऽत्र साधिकाः ।

इसका भाव यह है कि वेद शाखा-भेदसे अनेक भागोंमें विभक्त होकर
त्यन्त विस्तृत हो गया है । उनमेंसे कुछ भाग पचास उपनिषदोंके रूपमें निबन्धित
ग्रथित हैं । वे उपनिषदें पचाससे भी अधिक उपलब्ध होती हैं, परन्तु उन निबन्धों-
ारा किये गये निर्णयसे (तत्वविवेचनसे) प्रायः संतोष नहीं होता । उनमें भी
ंकराचार्यने दस ही उपनिषदोंको अभीष्ट माना है अथवा मान्यता प्रदान की है,
ो ईश-केन आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं । उन दसोंमें भी रामानुज आदि कुछ आचार्य
पष्टरूपसे शंकराचार्यद्वारा अभीष्ट अर्थसे भिन्न अर्थका कथन करते हैं (प्रतिपादन
रते हैं) इसी तरह अन्य (मतावलम्बी) जन भी अपने अभिप्रायके अनुसार
दके तात्पर्यका वर्णन करते हैं । यही कारण है कि वह तात्पर्य उन कथन करने-
ालोंका ही है, वेदका नहीं । यह ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार प्रजापतिद्वारा
नुशासित किये जानेपर भी विरोचनने अपने चित्तदोषके कारण देह में ही आत्मत्व-
ुद्धिका निश्चय करके समस्त असुरोंको उसी प्रकारका उपदेश दिया। ऐसी कथा
ान्दोग्योपनिषद्‌में स्पष्टरूपसे मिलती है । इसलिये योगियोंका स्थूल वेदमें प्रयोजन
ी नहीं है क्योंकि उनमें योगियों के अभीष्ट स्वसंवेद्य अलख-निरञ्जन तत्वका
म्यक् निर्वाचन नहीं हो पाता है । उनका प्रयोजन और तात्पर्य तो सम्पूर्ण वेदोंके
ूलभूत ॐकारमें ही है । उसी ॐकारमें सम्पूर्ण वेदोंके प्रलय और उदय होते रहते
ैं, इसलिये ॐकारका प्रतिपादन करनेवाली सभी श्रुतियाँ इस विषयमें साधिका हैं ।

तथाहि—'वेदस्य सारतरः प्रणवः । भूरित्येव ऋग्वेदादजायत,
ुव इति यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात्तानि शुक्राण्यभ्यतपत्तेभ्यस्त्रयो वर्णा
अजायन्ताकार उकारो मकार इति । तानेकधा समभरत्तदेतदोमिति'
ह्वृचब्राह्मणे । अस्य च प्रणवस्य ॐ इत्येतदक्षरमिदं सर्वमिति सर्वात्म्य-

श्रुतौ तन्मात्राणां चाकारोकारमकाराणां क्रमात् स्थूलकारणप्रपञ्चवाच
रभेदात् पूर्वस्योत्तरोत्तरत्र प्रविलापने गुरुयुक्त्या क्रियमाणे। स्थूलस्य ज
वेदस्य वा सूक्ष्मे लवणोदकन्यायेन प्रविलयो भवति। तथा सूक्ष्मस्य क
कारणस्य तुरीयेऽर्द्धमात्रावाच्ये मात्राख्ये 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते'
श्रुतेर्गलिताखिलद्वैतभावे वाङ्मनसातीते प्रविलयो भवति। अतः प्रण
इत्यभ्युपगम्य तद्द्वारा तत्प्रवर्तकनादब्रह्मेत्यवलम्ब्य नादब्रह्मणो य
वत्तत्वमिति विश्रान्तिमतां मते का वा श्रुतिः साधिका न भव
प्रसिद्धतरमेव सर्वत्र।

और भी—प्रणव-वेदका सारतत्त्व है। (इसका प्रमाण यह है कि) ऋ
से 'भूः', यजुर्वेदसे 'भुवः' और सामवेदसे 'स्वः'की उत्पत्ति हुई। इन
व्याहृतियोंको संतप्त किया गया। तब उनसे अकार, उकार और मकार—ये
अक्षर प्रकट हुए। उन अक्षरोंको एक साथ सम्मिलित कर दिया गया, यही
'ओम्' है-ऐसा बह्वृचब्राह्मणमें वर्णन है। इस प्रणवका 'ॐ' यह अक्षर (अवि
परमात्मा है और यह सम्पूर्ण जगत् उसीकी महिमाको लक्ष्य करनेवाला है,
उसी की महिमा के रूप में अभिव्यक्त है। ऐसी सर्वात्मक श्रुतिमें उसकी
अकार, उकार, मकारका क्रमशः स्थूल-प्रपञ्च और कारण-प्रपञ्च का वाचक
के कारण अभेद है, इसलिये गुरूपदिष्ट युक्तिसे पूर्व-पूर्वका उत्तरोत्तरमें विलीनी
करनेपर लवणोदकन्याय अनुसार स्थूल-जगत् अथवा वेदका सूक्ष्ममें प्र
हो जाता है। (लवण और जल देखनेमें दो पदार्थ प्रतीत होते हैं, पर उनको
कर देनेपर वे एक-दूसरे में आत्मसात् हो जाते हैं, ठीक इसी तरह गुरु
के प्रकाश में स्थूल जगत्—शब्द वेद को स्वसंवेद्य, ॐकार में वि
कर देने पर एकमात्र सूक्ष्मवेद—ॐकार-ज्योति की ही सत्ता अभिव्यक्त रहती
तत्पश्चात् सूक्ष्मका कारणमें और कारणका अर्धमात्रावाचक तुरीय मात्रामें प्र
होता है। वह मात्रा सम्पूर्ण द्वैतभावसे रहित और मन-वाणीके परे
उस मात्राका न तो मनके द्वारा अनुभव हो सकता है, न उसका वाणी के
कथन हो सकता है। "शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते"—इस श्रुतिके अनुसार अद्वै
चौथी मात्रा कहा जाता है। अतः प्रणववेदको प्राप्त करके उसके सहारे प्र
प्रवर्तक नादब्रह्मका अवलम्बन ग्रहण करना चाहिये। उस नादब्रह्मका जो मूल व
है, वही वह तत्व है। इस प्रकारके विश्रामशीलों (तत्वज्ञों) के मतसे कौ
श्रुति साधिका नहीं हो सकती—अर्थात् सभी हो सकती हैं—यह तो सर्वत्र प्र
ही है। (इस तरह श्रुतिको साधिका रूपमें उपयुक्त कर स्वसंवेद्य निरञ्जन अ
ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।)

प्रणवप्रशंसा च शिखोपनिषदि—

'प्रणवः सर्वांन्प्राणान् प्रणाययति वै तस्मात्प्रणवश्चतुर्द्धावस्थित इति वेददेवयोनिः सर्वंवाच्यवस्तु प्रणवात्मकम् । देवाश्चेति सन्धत्तां सर्वेभ्यो दुःसहेभ्यः सन्तारयति । तारणात्तानि सर्वाणीति । (:१-२)

अथर्वशिखोपनिषद्में प्रणवकी प्रशंसा यों की गयी है—

"प्रणव सम्पूर्ण प्राणोंको परमात्मातक पहुँचानेके लिए पथ-प्रदर्शक है, इसी कारण प्रणव (अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा—इस प्रकार) चार रूपों अथवा चार पादों में अवस्थित है। प्रणव अखिल वेदों एवं देवताओंका मूल है। समग्र अभिधानीय (नामरूपात्मक) वस्तुएँ प्रणवस्वरूप ही हैं। वह सम्पूर्ण देवताओंको सम्बन्धित करता है तथा समस्त दुःसह कष्टोंसे उद्धार कर देता है। उन सबका उद्धार करनेके कारण वह 'तार' कहलाता है।"

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरः शिव एव च।
पञ्चधा पञ्चदैवत्यः प्रणवः परिपठ्यते ॥

तत्राधिकं क्षणमेकमास्थाय क्रतुशतस्यापि फलमवाप्नोति । कृत्स्नमोंकारगतं च सर्वंज्ञानेनेति । माण्डूक्योपनिषदि—

"प्रणव ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और शिवरूपसे पाँच भागोंमें विभक्त (अभिव्यक्त) है और इन पाँचों देवोंद्वारा मान्य है।" उस प्रणवके प्रति जो अधिक-से-अधिक एक क्षण भी मनको एकाग्र कर लेता है, उसे सौ यज्ञानुष्ठानों का फल प्राप्त होता है। समग्र ज्ञान उस प्रणवमें ही एकात्मभूत है (समस्त ज्ञान प्रणवमय है)। ऐसा माण्डूक्योपनिषद्में कहा गया है—

ॐकारं पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ॥
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥
प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः ॥
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥
सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥
प्रणवं ह्मीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदये स्थितम् ॥
सर्वंव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति ॥

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ॥
ॐकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥ इति ॥
(आगम० २४—२९)

"ॐकारको पदक्रमसे जान लेनेपर पुनः किसी अन्यका चिन्तन नहीं करना चाहिये (ॐकारको जान लेनेपर, ॐकारमें तन्मय हो जानेपर उसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, जिसका चिन्तन हो)। प्रणव भयरहित ब्रह्मपद है, अतः प्रणवमें ही चित्तको लगाना चाहिए। जिसका चित्त प्रणवमें सदा समाहित रहता है, उसके लिये कहीं भी भय नहीं है। प्रणव ही अपर ब्रह्म और प्रणव ही परब्रह्म माना गया है। प्रणव अपूर्व, (अकारण), अनन्तर (आन्तर-भेदसे रिक्त), अबाह्य (बाह्य-भेदसे शून्य) अनपर (अपर-कार्यसे रहित) और अविनाशी है। प्रणव सबका आदि, मध्य तथा अन्त भी है। इस प्रकार प्रणवको जान लेनेपर (साधक) तन्मय हो जाता है। प्रणवको सबके अन्तःकरणमें विराजमान ईश्वर समझना चाहिए। इस प्रकार जो धैर्यवान् पुरुष सर्वव्यापी ॐकारको जान लेता है, उसे सोच नहीं करना पड़ता। जो मात्रारहित, साथ ही अनन्त मात्राओंसे युक्त, द्वैत का उपशामक (अद्वैत, सर्वमय) और शिवस्वरूप है, उस ॐकारको जो जान लेता है, वही मुनि है, अन्य लोग नहीं।"

बृहदारण्यके—स यथाद्रैधाग्नेरभ्याहितस्येत्यादि।
(४ । ५ । ११)

जिस प्रकार जिसका इंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए (अग्निसे पृथक् धूएँ निकलते रहते हैं, उसी प्रकार सब कुछ प्रणवस्वरूप ब्रह्मके निःश्वास ही हैं।)

छान्दोग्ये—एतदक्षरमुद्गीथेत्यादि।
(१ । ४ । १

ॐ—यह अक्षर उद्गीथ है, आदि।

एतदेवाभिप्रेत्य महाभारते सनत्सुजातीयवचनम्—

इसी अभिप्रायको स्पष्ट करनेके लिए महाभारतमें सनत्सुजातजीका वचन है—

यतो न वेदा मनसा सहैनमनुप्रविशन्ति ततोऽथ मौनम्।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं स तन्मयत्वेन विभाति राजन्॥
(२ । २)

"राजन् ! क्योंकि मनसहित सम्पूर्ण वेद इस परमात्मा (के तत्त्वज्ञापन) में समर्थ नहीं हो सकते, इसलिए यही मौन है। जिस (संवेदनरूप) अर्थ में (उसके वाचक रूपसे) वेद-शब्दका प्रयोग हुआ है, उसी अर्थमें यह (परमात्मा) है और तद्रूप ही यह प्रतीत होता है।'

श्रीभागवत (पुराण) के ग्यारहवें स्कन्ध में—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रास्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥
(११ । १२ । १७)

"(चक्रसमूहरूप) विवरसे प्रकट होनेवाला यह (वाणीरूप) जीव पहले अनाहत नादयुक्त प्राणरूपसे बुद्धि-गुहामें प्रविष्ट होता है, फिर मनोमय सूक्ष्मरूप धारण करता है और तदनन्तर मात्रा, स्वर और वर्णरूप स्थूल वाणी होकर प्रकट होता है।"

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्॥
मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना।
भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते॥
यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णमुद्वमते मुखात्।
आकाशाद्घोषवान्प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा॥
छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः।
ओङ्काराद् व्यञ्जिदस्पर्शस्वरोषमान्तस्थः भूषिताम्।
(११ । २१ । ३६-३९)

शब्द-ब्रह्म अत्यन्त दुर्ज्ञेय है, वह प्राणमय, मनोमय और इन्द्रियमय—तीन प्रकारका है तथा समुद्र-तुल्य अनन्त-पार, गम्भीर और कठिनतासे पार किये जाने योग्य है। अनन्त शक्तिसम्पन्न एवं सर्वव्यापक मुझ ब्रह्मने ही उसका विस्तार किया है। वह कमल-नालमें स्थित सूक्ष्म तन्तुके सदृश प्राणियोंके अन्तःकरणमें नादरूपसे प्रकट होता है। जिस प्रकार मकड़ी जालाको अपने हृदयसे मुखके द्वारा निकाल कर फैला देती है, उसी प्रकार सूक्ष्म नादरूप उपादान-कारणसे युक्त प्राणस्वरूप भगवान् हिरण्यगर्भ मनरूप निमित्त कारणद्वारा हृदयाकाशसे उसे वैखरी-वाणीमें प्रकट करते हैं। पुनः वे वेदमय एवं अमृतमय प्रभु उसे ॐकारद्वारा स्पर्श (क से म तक), स्वर (अ से औ तक), ऊष्म (श, ष, स, ह) और अन्तःस्थ (य, र, ल, व) से विभूषित करके हजारों रूपोंमें प्रकट करते हैं।' इत्यादि।

अन्यच्च—

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक् ।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः ॥
त्रेतामुखेमहाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी ।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः ॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ॥ इत्यादि ॥

(११ । १७ । ११-१३)

और भी—आदिमें प्रणव ही वेद था तथा (तप, शौच, दया एवं सत्यरूप चार चरणोंवाले) वृषभका रूप धारण करनेवाला मैं ही धर्म था । उस समयके पापरहित एवं तपस्यामें तत्पर लोग हंसरूपसे मेरी उपासना करते थे । महाभाग ! त्रेतायुगके प्रारम्भ में मेरे हृदय से श्वास-प्रश्वासके द्वारा (ऋक्, यजुः और साम-रूपा) त्रयी विद्याका आविर्भाव हुआ । तत्पश्चात् उस त्रयी विद्यासे त्रिवृत-यज्ञ (होता, ऋत्विक् और उद्गाता) रूपसे मैं प्रकट हुआ । तदनन्तर मुझ विराट् पुरुषके मुख, बाहु, ऊरु और पादसे क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए इत्यादि ।

गीता में—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(८ । १३)

"जो पुरुष 'ॐ' ऐसे इस एकाक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ तथा उसके अर्थस्वरूप मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर को त्यागकर प्रयाण करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ।"

एवमन्यत्रापि बहुधा प्रपञ्चितम् तदत्र विस्तारभयान्न लिख्यते । इति तृतीयमुत्तरम् ॥३॥

इसी प्रकार अन्यान्य स्थलोंपर भी अनेकों प्रकारके उल्लेख मिलते हैं, किन्तु उन्हें यहाँ विस्तार-भयसे नहीं लिखा जा रहा है । यह तीसरा उत्तर हैं ।

पुनर्वेदार्थस्य बोधस्तु केषाञ्चिन्नास्त्येव ॥ केवलमभिमानमेव पुरस्कृत्य ये वदन्ति तान् प्रति चतुर्थमिदमुत्तरम्—यद्भवद्भिर्वेदो वेद इति पुनः पुनरुच्यते, तस्य वेदस्य त्वभ्यासेऽप्यवधूतानां दोष एव स्यात् ।

कथमिति चेदुच्यते वेदस्य पूर्वभागस्तु वर्णानामेव, वेदान्तभागस्तु भिक्षूणामेव, उभयविलक्षणो योगभागोऽस्त्यवधूतानाम् । वेदस्य पूर्वभागे ज्ञानं वाच्यार्थेन न दर्शितम् । किन्तु तात्पर्ये तदस्तीति भवद्भिरेवोच्यते । एवञ्च वेदस्य पूर्वभागे यथा ज्ञानं तात्पर्येऽस्ति तथा वेदान्तभागे योगस्तात्पर्यार्थोऽस्ति । यद्यपि बहुधा वाच्यार्थेनापि दर्शितो योगस्तथापि मुख्योत्तरं तु मुख्यतात्पर्यं एवास्ति । यतो वेदान्ततात्पर्यं लक्ष्यं चावधूत एवास्ति । 'सर्वे वेदास्तत्पदमामनन्ति इत्यादि श्रुतयो 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो' इत्यादि स्मृतयश्च ।

रूपे इमे सदसती तव वेद सृष्टेर्बीजांकुराविव न चान्यदरूपकस्य ।
युक्ताः समक्षमुभयत्र विचिन्वते त्वां योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ।

इत्यादि पुराणवाक्यानि चात्र साधकानि । एतदेवाभिप्रेत्य महाभारते सनत्सुजात आह—

पुनः कुछ लोगोंको वेदार्थका ज्ञान ही नहीं है—जो लोग केवल अभिमानका ही आश्रय लेकर इस प्रकार कहते हैं, उनके लिये यह चौथा उत्तर है—आप लोग बारबार जो वेद-वेद कहते हैं, उस वेदका तो अभ्यास भी अवधूतोंके लिये दोषप्रद ही है । यदि कहा जाता है कि यह कैसे हो सकता है तो (इस विषय में) कथन है—वेदका पूर्वभाग (पूर्व-मीमांसा-कर्मकाण्ड) चारों वर्णोंके लिए है, वेदान्तभाग (उत्तरमीमांसा-ज्ञानकाण्ड) संन्यासियोंके लिए है तथा इन दोनोंसे विलक्षण योगभाग अवधूतोंके लिए है । वेदके पूर्वभागमें ज्ञान वाच्यार्थ रूपसे नहीं दिखलाया गया है, किंतु तात्पर्यार्थमें ज्ञान ही है--ऐसा आपलोग ही कहते हैं । इसी प्रकार जैसे वेदके पूर्वभागसे ज्ञान तात्पर्यार्थमें है, वैसे ही वेदान्तभागमें योग भी तात्पर्यार्थमें है । यद्यपि योग बहुधा वाच्यार्थरूपसे भी दिखलाया गया है, तथापि मुख्य उत्तर तो मुख्य तात्पर्यमें ही है । इसलिए वेदान्तका तात्पर्य एवं लक्ष्य अवधूत (के लिए) ही निर्दिष्ट है । इस विषयमें 'सर्वे वेदास्तत्पदमामनन्ति—' चारों वेद उसी पद का ज्ञान कराते हैं—इत्यादि श्रुतियाँ, 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' चारों वेदोंद्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ' इत्यादि स्मृतियाँ तथा "वस्तुतस्तु आप रूपरहित हैं तथापि जैसे बीज और अंकुर ॐ सृष्टिके स्वरूप हैं, उसी प्रकार इन सत् और असत्को आपके स्वरूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं समझना चाहिए । (सबमें आप ही विद्यमान हैं।) इसीलिए समाहितचित्त (समाधि-अवस्था में तल्लीन) योगी योगद्वारा दोनों स्थलोंपर (सद्-असद्में) प्रत्यक्षरूपसे आपकी

ही खोज करते हैं; क्योंकि आप काष्ठों में अग्निकी भाँति उन दोनोंमें व्याप्त हैं, इसलिये आपकी प्राप्ति अन्यत्र नहीं हो सकती।' इत्यादि पुराणवाक्य साधक हैं तथा इस तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। इसी अभिप्रायको निर्दिष्टकर महाभारत सनत्सुजातीयमें कहा गया है—

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति कश्चित्त्वेतान् बुध्यते वापि राजन्।
यो वेद वेदान्न स वेद वेद्यं सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम्॥
न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति वेदेन वेदं न विदुर्न वेद्यम्।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम्॥
यो वेद वेदान् स च वेद वेद्यं न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति॥
यामांशभागस्य तथा हि वेदा यथा च शाखा हि महोरुहस्य।
संवेदने चैव यथामनन्ति तस्मिन् हि सत्ये परमात्मनोऽर्थे॥
(२।४२-४४)

'वेदोंमेंसे कोई भी (उस परमात्माका) जानकार नहीं है। चारों वेदों में से कोई भी वेद स्वसंवेद्य परमात्म-तत्व का स्वरूपतः वर्णन नहीं करता है, क्योंकि वेदद्वारा न तो वेद (संविद्रूप परमात्मा) का ज्ञान होता है और न वेद्य (दृश्यवर्ग) का ही। इसलिये जो वेद (सत्-परमात्मा) को जानता है, वही वेद्य (दृश्य) को भी जान लेता है, किंतु जो केवल वेद्य (दृश्य) को ही जानता है, वह (पूर्ण रूपसे) सत्यको नहीं जानता। जो वेदोंको जानता है, वह दृश्यवर्गको तो जान लेता है, परन्तु उस परमात्माको न तो वेद ही जानते हैं और न वेदज्ञ ही, तथापि जो ब्राह्मण (ब्रह्मतत्त्वज्ञ), वेदवेत्ता होते हैं, वे वेदद्वारा ज्ञानस्वरूप परमात्माको भी जान लेते हैं। जिस प्रकार वृक्षकी शाखा (प्रतिपदाके) चन्द्रांशभागके दर्शनमें हेतु होती है, उसी प्रकार वेद परमात्माके उस सत्यस्वरूप तत्वज्ञानकी प्राप्तिमें साधन (हेतु) हैं।'

धृतराष्ट्र उवाच—

आख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कथ्यते जनः।
तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथापरे॥
द्विवेदाश्चैकवेदाश्च अनृचश्च तथापरे।
तेषां तु कतरः स स्याद्यमहं वेद वै द्विजम्॥
(२।३५-३६)

धृतराष्ट्रने पूछा—'कोई मनुष्य तो आख्यान अर्थात् पुराण जिनमें पाँचवाँ है, इन पाँच वेदोंके कारण अत्यन्त महान् कहा जाता है तथा अन्य कुछ लोग चतुर्वेदी और कुछ लोग त्रिवेदी कहलाते हैं एवं कुछ लोग द्विवेदी, एक वेदी और अनृच (ऋग्वेद आदि) से बाह्य (असम्बद्ध) कहे जाते हैं, उनमें वह कौन है, जिसे मैं (सर्वोत्तम) तत्वज्ञ अथवा ब्रह्मज्ञानी जानूँ ?'

सनत्सुजात उवाच--

एकस्य वेदस्याज्ञानाद्वेदास्ते बहवः कृताः।
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः॥
एवं वेदमविज्ञाय प्राज्ञोऽहमिति मन्यते।
दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेतत्प्रवर्तते॥
सत्यात्प्रच्यवमानानां संकल्पाश्च तथा भवेत्।
ततो यज्ञः प्रतायेत सत्यस्यानवधारणात्॥
(२। ३७–३९)

सनत्सुजात ने कहा—राजेन्द्र ! एकमात्र सत्यस्वरूप वेद (स्वसंवेद्य) का ज्ञान न होनेके कारण वेद के ऋग्, यजुः, साम और अथर्व आदि भाग हो गये। उस सत्य में तो कोई बिरला ही स्थित होता है (सत्स्वरूप की प्राप्ति करता है) इस प्रकार (सत्यस्वरूप) वेदको न जानकर भी मनुष्य अपनेको मैं प्राज्ञ (तत्वज्ञ) हूँ।' ऐसा मान बैठता है। उसके द्वारा दान, अध्ययन, यज्ञ—ये सभी कार्य (फल के) लोभ के कारण ही सम्पादित होते हैं। जो लोग सत्यस्वरूप ब्रह्मसे च्युत हो गये हैं (ब्रह्मज्ञान से रिक्त हैं) उनके संकल्प भी उसी प्रकार सत्यहीन (असत्) होते हैं। इसीसे सत्यका ज्ञान न होनेके कारण यज्ञ आदि कर्मोंका विस्तार (अनुष्ठान) किया जाता है।'

धृतराष्ट्र उवाच--

ऋचो यूजंषि यो वेद सामवेदं च वेद यः।
पापानि कुर्वन् पापेन लिप्यते किं न लिप्यते॥
(२। ३)

धृतराष्ट्रने पूछा—'जो ऋग्वेद और यजुर्वेदका ज्ञाता है तथा जो सामवेदका भी जानकार है, वह क्या पाप करनेपर उससे लिप्त होता है, पाप के फल का भोक्ता होता है या नहीं ?

सनत्सुजात उवाच--

> नैनं सामान्यृचो वापि न यजूंष्यविचक्षणम् ।
> त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥
> नच्छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्त्तमानम् ।
> नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्छन्दास्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥
> (२ । ४-५)

सनत्सुजातजीने कहा—

'धृतराष्ट्र ! मैं तुमसे मिथ्या नहीं कह रहा हूँ, ऐसे अज्ञानीको सामवेद, ऋग्वेद अथवा यजुर्वेद --कोई भी पाप-कर्म (फलभोग) से नही बचा सकते । मायाद्वारा व्यवहार करनेवाले मायामोहग्रस्त उस मायावी अज्ञानी मोही) का वेद पापसे उद्धार नहीं कर सकते, अपितु जिस प्रकार पंख निकल आनेपर पक्षी घोंसले-को छोड़कर चल देते हैं, उसी प्रकार वेद (से प्राप्त ज्ञान) भी अन्तकालमें उसका परित्याग कर देते हैं, वह वेदों के आश्रय से पापमुक्त नहीं हो पाता है ।

एवं च स्थूलवेदतात्पर्यंयुष्माभिः सूक्ष्मवेदतात्पर्याणामस्माकं मतमविज्ञाय योऽनुयोगस्तत्प्रतिवाक्यमिदं चतुर्थमुत्तरम् ॥ ४ ॥

इस प्रकार ऋगादि स्थूल (शब्दगत) वेदोंके तात्पर्यंका अनुसरण करनेवाले तुमलोगों के द्वारा, सूक्ष्मवेदके तात्पर्यं में निष्ठा रखनेवाले हमलोगोंके मनको जाने बिना, जो जिज्ञासा प्रकट की गयी,-उसके समाधानमें यह चौथा उत्तर है ।

सिद्धमार्ग द्वारा जीव की बन्धन-मुक्ति

योगवीजमें

> बद्धा येन विमुच्यन्ते नाथमार्गतः परम् ।
> तमहं कथयिष्यामि तव प्रीत्या सुरेश्वरि ॥
> नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम् ।
> सिद्धमार्गेण लभ्यते नान्यथा शिवभाषितम् ॥
> अनेकशतसंख्याकैस्तर्कव्याकरणादिभिः ।
> पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः ॥
> अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यं तै सुरैरपि ।
> स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ॥
> (७-१०)

हे देवताओं की अधीश्वरी पार्वती ! मैं तुम्हारी प्रसन्नता के लिए उस नाथमार्ग—सिद्धमार्ग का वर्णन करता हूँ, जिसका आश्रय ग्रहण करने पर संसार के बन्धन में ग्रस्त जीव मुक्ति प्राप्त कर स्वस्थ हो जाते हैं, यह नाथमार्ग अत्यन्त श्रेयस्कर है। अन्य मार्गों का आश्रय लेनेसे कैवल्यस्वरूप परम पद—स्वसंवेद्य पद की प्राप्ति नहीं होती, वह तो सिद्धमार्ग पर ही सुदृढ़ रहनेसे प्राप्त होता है, मेरा (शिवका) यह सत्यकथन है कि इसके लिए कोई दूसरा उपाय ही नहीं है। सैकड़ों न्याय, व्याकरण आदि शास्त्रों के अध्ययन के जाल में ग्रस्त लोग (सत्स्वरूप की प्राप्ति से वञ्चित होकर) बुद्धिसे भ्रमित—विमूढ़ हो जाते हैं। परमपद कैवल्य का शब्दोंके द्वारा निर्वचन ही नहीं हो सकता, देवता भी इस कार्य में असमर्थ हैं तो इस स्वसंवेद्य आत्मपदका वर्णन शास्त्र-ज्ञानसे नहीं हो सकता।

विशुद्ध एव परमात्मा जीवाभिध इत्युक्त्वा जीवस्य दोषाः कामक्रोध-भयचिन्तेत्यादयश्चोक्ताः।

शुद्ध निरञ्जन सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा ही 'जीव' कहा जाता है—इस तरह कहकर काम, क्रोध, भय, चिन्ता आदि जीव के दोष बतायें गये हैं।

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते।
ज्ञानं केचिद् वदन्त्यत्र केवलं तन्न सिद्धये॥
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि।
(योगबीज १८-१९)

(शिव जी का कथन है कि) हे परमेश्वरि ! मैं इन (काम, क्रोधादि) दोषों को नष्ट करने का उपाय तुम्हें बतलाता हूँ। अनेक लोगों का कथन है कि ज्ञान के द्वारा उन दोषों का नाश हो जाता है, लेकिन केवल ज्ञानमात्र से यह किस तरह सम्भव है, योगहीन ज्ञान से (दोषों का नाश होकर) किस तरह कैवल्य पद की प्राप्ति हो सकती है ?

अज्ञानात्संसारो ज्ञानेन मुच्यते। तत्र योगस्य किं कार्यमिति देव्या पृष्ट, ईश्वर उवाच—

अज्ञान से संसार (-बन्धन) की प्राप्ति होती है और ज्ञानसे उस बन्धन से मुक्ति मिल जाती है। देवी पार्वती ने कहा कि फिर योगसाधन की क्या आवश्यकता है। शिवजीने कहा—

असौ दोषैर्विमुक्तः किं कामक्रोधभयादिभिः ।
सर्वदोषैर्वृतो जीवः कथं ज्ञानेन मुच्यते ।।
(योगबीज २३)

(जिसने परम कल्याणस्वरूप कैवल्यका ज्ञान प्राप्त कर लिया) क्या वह काम, क्रोध, भय आदि दोषोंसे विमुक्त हो गया ? नहीं । समग्र दोषोंसे आच्छादित (युक्त-बद्ध) जीव ज्ञान द्वारा ही किस तरह मुक्त हो सकता है ?

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ।।
(योगबीज ३१-३२)

चाहे कोई कितना ही बड़ा ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय अथवा देवता ही क्यों न हो, हे परमेश्वरि ! योग (-ज्ञान) के बिना कोई भी जीव मोक्ष पद में स्वस्थ नहीं हो सकता ।

अपक्वाः परिपक्वाश्च द्विविधा देहिनः स्मृताः ।
अपक्वा योगहीनास्तु पक्वा योगेन देहिनः ।।
(योगबीज ३४)

मनुष्य अपक्व (योगाभ्यास से रहित कच्ची देह वाले) और परिपक्व (योगाग्नि से पके हुए सिद्धदेह वाले) दो प्रकार के कहे जाते हैं, उनमें जो मानव योगहीन हैं, वे अपक्व (देहवाले) और जो योगयुक्त हैं, वे पक्व (योगसिद्ध देह-वाले) कहलाते हैं ।

तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जपः स्यात्केवलं श्रमः ।
(योगबीज ४१)

इसलिए ज्ञान, वैराग्य और जप केवल श्रममात्र ही हैं ।

शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम् ।
तत्कथं कुरुते तेषां सुखदुःखादिजं फलम् ।।
(योगबीज ४६)

शरीर ने सभी जीवों को जीत लिया है, अपने वश में कर लिया है अर्थात् पांचभौतिक शरीर का नाश होनेपर जीव का प्राणान्त हो जाता है परन्तु योगियों

ने उस शरीरको वशीभूत कर रखा है (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, कुण्डलिनी जागरण, मुद्राबन्ध आदि यौगिक क्रियाओं से पक्व कर उसे नष्ट होने से बचा लिया है अर्थात् उनका असामयिक शरीरपात नहीं होता है।) तब वह विनश्वर शरीर उन योगियों को सुख-दुःखादिजन्य फल किस प्रकार प्रदान कर सकता है, विनश्वर शरीर के द्वारा सुख-दुःख के फल से भयभीत किये जाने की योगियों को आशंका नहीं रहती है।

देवैरपि न लभ्येत योगदेहो महाबलः ।
छेदबन्धैर्विमुक्तोऽसौ नानाशक्तिधरः परः ।।
यथाऽऽकाशस्तथा देहः आकाशादपि निर्मलः ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरो देहः स्थूलात्स्थूलो जडाज्जडः ।।
इच्छारूपो हि योगीन्द्रः स्वतन्त्रस्त्वजरामरः ।
क्रीडति त्रिषु लोकेषु लीलया यत्र कुत्रचित् ।।
अचिन्त्यशक्तिमान् योगी नानारूपाणि धारयेत् ।
संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रियः ।।
(योगबीज ५२-५५)

योगदेह (योगसाधना द्वारा योगाग्नि में पक्व सिद्धदेह) बड़ी बलवती (नाश) छेद और बन्ध से विमुक्त अनेक प्रकार की शक्तियों से परिपूर्ण और परमोत्कृष्ट होती है, उसे देवता भी नहीं प्राप्त कर सकते, फिर साधारण (योगाभ्यास से विमुख) जीवों (शरीरधारियों) की तो बात ही क्या है ? वह देह आकाश के सदृश स्वच्छ, अपितु आकाश से भी अधिक निर्मल, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, स्थूल से भी स्थूलतर और जड़ से भी जड़तर (ठोस) होती है। योगिराज (स्वेच्छा से ही कर्मपरायण) स्वतन्त्र, अजर (जरारहित) और अमर होता है। वह तीनों लोकों में सर्वत्र लीलापूर्वक सहज क्रीडारत रहता है। अचिन्त्य-शक्तिशाली एवं विजितेन्द्रिय योगी अपनी इच्छा से अनेकों रूप धारण कर लेता है और पुनः उनका संवरण भी कर देता है तथा सामान्य-सहज स्थिति में स्वस्थ हो जाता है।

पुरैव मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः ।
मरणं यत्र सर्वेषां तत्रासौ सखि जीवति ।।

कर्तव्यं नैव तस्यास्ति कृतेनासौ न लिप्यते ।
जीवन्मुक्तः सदा स्वस्थः सर्वदोषविवर्जितः ।।
विरक्ता ज्ञानिनश्चान्ते देहेन विजिताः सदा ।
ते कथं योगिभिस्तुल्या मांसपिण्डाः कुदेहिनः ।।

(योगबीज ५७-६०)

सखि, पार्वती ! ऐसा योगी तो पहले ही मर चुका होता है, वह जीवन्मुक्त अवस्था में भी व्यवहार रखता है और उसके लिये पांचभौतिक शरीर के क्षरण—मृत्यु का प्रश्न ही नहीं रहता है। जिस स्थिति में सभी प्राणियों की मृत्यु होती है, उसमें भी वह जीवित रहता है, उसका शरीर मृत्यु का ग्रास नहीं बनता है, वह सिद्धदेह प्राप्त कर लेता है। उसके लिये न तो कोई कर्तव्य ही शेष रह जाता है और न वह किये हुए कर्म से लिप्त ही होता है। कर्मफल के भोग में सर्वथा स्वतन्त्र रहता है, कर्म उसके लिये बन्धनकारक नहीं होता है। वह सम्पूर्ण दोषों से रहित सदा स्वस्थ और जीवन्मुक्त होता है। मांसपिण्डरूप कुत्सित शरीर धारण करनेवाले विरक्त और ज्ञानी भी अन्त समय में सदा देहद्वारा पराजित हो जाते हैं, पांच-भौतिक शरीर के विकार से ग्रस्त हो जाते हैं, ऐसी दशा में वे योगियों के समान जीवन्मुक्त किस तरह हो सकते हैं ?

देव्युवाच :—

ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी ।
गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे ।।

(योगबीज ६१)

देवी ने पूछा—देवेश ! आप करुणारूप अमृत के सागर हैं, अब यह बतलाइये कि जो ज्ञानी मर चुके हैं, उनकी गति कैसी होती है ?

ईश्वर उवाच :—

देहान्ते ज्ञानिनः पुण्यात्पापाच्च फलमाप्यते ।
यादृशं तु भवेत्तत्र मुक्तो ज्ञानी पुनर्भवेत् ।।

पुण्यात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम् ।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ॥
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ।
महाविष्णुमहेशानां प्रलयेष्वपि योगिनाम् ।
नास्ति पातो लयस्थानां महातत्त्वे विवर्तिनाम् ॥
वेदान्ततर्कोक्तिभिरागमैश्च नानाविधैः शास्त्रकदम्बकैश्च ।
ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यं चिन्तामणिं त्वेकगुरुं विहाय ॥

(योगबीज ६२–६६)

ईश्वर (शिवजी) ने कहा—देहावसान होनेपर ज्ञानी को पुण्य और पाप का फल प्राप्त होता (भोगना पड़ता) है । पुण्य अधिक होनेपर सुख की प्राप्ति होती है, पाप की अधिकता दुःख देती है । उन पुण्य-पापों के अनुपात से मुक्त ज्ञानी का पुनर्जन्म होता है । मुक्त ज्ञानी को कर्मफल-भोग के लिये शरीर धारण करना पड़ता है । जब अधिक पुण्यकर्माचरण से उसे किसी सिद्ध की संगति उपलब्ध होती है तब सत्संग सुलभ हो जाता है और उस सिद्ध की कृपासे वह ज्ञानी योगी होता है, तब उसका संसार-बन्धन (जन्म-मरण का चक्र) नष्ट हो जाता है, अन्यथा नहीं । यह शिवजी का कथन अन्यथा नहीं है । महाविष्णु और महेश आदि के प्रलयों में भी महातत्त्व में विद्यमान लययोगस्थ योगियों का संहार (शरीर का नाश) नहीं होता । एकमात्र गुरुदेव को छोड़कर अन्य वेदान्त और न्याय-शास्त्र के वचनों, आगमों, अनेकानेक शास्त्रसमूहों के पठन-पाठन और ध्यान आदि योग-साधनों द्वारा चिन्तामणिस्वरूप परमतत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती । एकमात्र गुरु के अनुग्रह और शक्तिपात से ही परमात्मा की अपरोक्षानुभूति होती है ।

महासाकार पिंड की आठ मूर्तियाँ

सिद्धसिद्धान्तपद्धती (१ । ३७)—शिवाद् भैरवः, भैरवाच्छ्रीकण्ठः, श्रीकण्ठात् सदाशिवः, सदाशिवादीश्वरः, ईश्वराद्रुद्रः, रुद्राद्विष्णुः, विष्णोर्ब्रह्मेति । महासाकार पिण्डस्य मूर्त्यष्टकम् ।

(पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—पाँच भूतों का समष्टिरूप ही महासाकार-पिण्ड है । शिव से भैरव, भैरव से श्रीकण्ठ, श्रीकण्ठ से सदाशिव, सदाशिव से

ईश्वर, ईश्वर से रुद्र, रुद्र से विष्णु, और विष्णु से ब्रह्मा—इस तरह महासाकार-पिण्ड की आठ मूर्तियाँ कही गयी हैं।

सम्पूर्ण दर्शनों का स्वरूपदर्शन में समन्वय

आचारे ब्राह्मणा वसन्ति, शौर्ये क्षत्रियाः, व्यवसाये वैश्याः, सेवाभावे शूद्राः। अनन्तसिद्धा मतिप्रकाशे। अस्ति कश्चित्परमाद्वैतस्य भावः स एवात्मेति।

सदाचारमें ब्राह्मण तत्पर रहते हैं, पराक्रम क्षत्रिय का गुण है, व्यवसाय में वैश्य संलग्न रहते हैं और सेवा-भाव में शुद्र कर्तव्य-पालन करते हैं, असंख्य सिद्धगण मतिके प्रकाशन में संलग्न रहते हैं, तत्वविवेचन में ही लीन रहते हैं। परमात्मा की अपरोक्षानुभूति-साक्षात्कार ही आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करते हुए आत्मा में स्वस्थ हो जाना है यदि परमाद्वैत का कोई भाव है तो वह आत्मा ही है।

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ४। २६)

यद्यपि शिव असंग, कूटस्थ और अलख-निरंजन है, तथापि शिवमें शक्ति और शक्ति में शिव नित्य विराजमान रहता है। जिस तरह चन्द्रमा और उसकी चन्द्रिका स्वरूपतः अभिन्न है, उसी तरह पारमार्थिक स्तरपर शिव-शक्ति स्वरूपतः अभेद हैं।

तज्ज्ञेयं सद्गुरोर्वक्त्रान्नान्यथा शास्त्रकोटिभिः।
नतर्कशब्दविज्ञानान्नाचाराद्वेदपाठनात्॥
वेदान्तश्रवणान्नैव तत्वमस्यादिबोधनात्।
देवार्चनाश्रयाद् भक्त्या नाश्रमाणां च पालनात्॥
स्वस्थो योगी स्वयं कर्ता लीलया चाजरामरः।
अवध्यो देवदैत्यानां क्रीडते भैरवो यथा॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५। ३१-३४)

वह परमतत्व न तो करोड़ों शास्त्रों से, न न्याय और व्याकरण से, न सदाचार से और न वेदपाठ से, न वेदान्त-श्रवण और 'तत्वमसि' आदि वाक्यों के

ज्ञानसे, न भक्तिपूर्वक देवार्चन में तत्पर रहने और आश्रम-धर्मों के पालन से ही प्राप्त हो सकता है, यद्यपि इस परमात्मतत्वका उपर्युक्त शास्त्रों में तथा आचार-विचारों के सन्दर्भ में प्रकाशन किया गया है, तथापि वह गुरु के अनुग्रह से अपरोक्षानुभूतिका विषय होने से साध्य है। उसे सद्गुरु के मुखारविन्द (उपदेश-वचनामृत से) जानना चाहिए। योगी स्वयं स्वस्थ रहते हुए लीलापूर्वक कर्म करने वाला, अजर, अमर और देवों एवं दैत्यों द्वारा अवध्य होता है। वह (साक्षात् शिवस्वरूप होकर) भैरव की भाँति क्रीडा करता रहता है। अलख-निरञ्जन परम ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर में आत्मरमण करता है।

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं शिवशासनतः शिवशासनतः।

(सि० सि० प० ५। ६६)

परमेश्वर शिवका यह शासन (उपदेश अथवा वचन) है कि साधक को परमपद में स्वस्थ-प्रतिष्ठित करने के लिए एकमात्र परमाश्रय सद्गुरु ही है।

करुणाखड्गपातेन छित्वा पाशाष्टकं शिशोः।
सम्यगानन्दजनकः सद्गुरुः सोऽभिधीयते॥

(सि० सि० प० ५। ६८)

जो करुणारूप खड्ग के प्रहार से शिशु-शिष्य के (घृणा, भय, शंका, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील, जाति अथवा जन्म, मृत्यु, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, अविद्या इन) अष्टपाशों (बन्धनों) का छेदन (विनाश) करके उसे आत्मज्ञान प्रदान कर आनन्दस्वरूप में स्थित कर देता है, वह सद्गुरु कहा जाता है।

पुनश्लाघादिना शास्त्रदृष्टचानुमानतर्कमुद्रया भ्रामको गुरुस्त्याज्यः।

जो (आत्मप्रशंसा) आत्मश्लाघा, शास्त्रों के असंगत प्रमाणों, अनुमान, तर्क और मुद्रा द्वारा शिष्य को भ्रमित कर सत्स्वरूप की प्राप्ति अथवा सद्ज्ञान से वंचित कर देता है, उस गुरु का आश्रय छोड़ देना चाहिये।

स्वविश्रान्ति न जानाति परेषां स करोति किम्।
शिलया किं परं पारं शिलाजालं प्रतार्यते॥
स्वयं तीर्णो भवेद्योऽसौ परान्निस्तारयत्यलम्।

(सि० सि० प० ५। ७३-७४)

जो गुरु मिथ्यावादी, आत्मप्रशंसक और शिष्यों को भ्रमित कर बन्धन में डालने वाला है, जो अपनी विश्रान्ति–विश्राम-स्थान (आत्माश्रयरूप परमपद) को स्वयं नहीं जानता, वह दूसरों के लिए क्या कर सकता है ? किस तरह आत्मज्ञान-प्रकाश दे सकता है । यह सम्भव नहीं है कि पत्थर को नौका द्वारा पाषाणों को लादकर नदी के उस पार ले जाया जाय, इसलिए जो स्वयं पार पहुँचा हुआ होता है, आत्मज्ञाननिष्ठ और मोक्षपद का ज्ञाता होता है, वही दूसरों को भी (संसार सागर से) पार पहुँचा सकता है ।

सर्वदर्शनानां स्वरूपदर्शनेन समन्वयं करोति सोऽवधूतः स योगी स्यात् ।

जो सम्पूर्ण आत्मा-परमात्मा, प्रकृति आदि तत्वों पर प्रकाश डालने वाले सारे षट्दर्शन आदि दर्शनों का स्वरूपदर्शन (आत्मबोधपरक ज्ञान) के साथ समन्वय कर देता है, संगति बैठाता है, वही अवधूत है और वही योगी है ।

अत्याश्रमी च योगी च ज्ञानी सिद्धश्च सुव्रतः ।
ईश्वरश्च तथा स्वामी धन्यः श्रीसाधुरेव च ।।
जितेन्द्रियश्च भगवान् स सुधी कोविदो बुधः ।
सर्वेषां दर्शनानां च स्वस्वरूपं प्रकाशयेत् ।।
(सि० सि० प० ६ । २१-२२)

जो अत्याश्रमी (चारों आश्रमों के कर्तव्य पालन से अतीत ब्रह्मनिष्ठ) योगी, ज्ञानी, सिद्ध, सुव्रत, ईश्वर, परम शक्तिमान्, स्वामी, धन्य, श्रीसाधु, जितेन्द्रिय, षडैश्वर्यसम्पन्न (भगवद्गुणसम्पन्न समर्थ) उत्तम, आत्मबुद्धिवाला. अनुभवी और बुद्धिमान् होता है, वही सम्पूर्ण दर्शनों में विवेचित आत्मतत्व का स्वस्वरूपमें समन्वय (सामंजस्य) स्थापित करता है ।

सर्वतो भरिताकारं निजबोधेन बृंहितम् ।
चरते ब्रह्मविद्यस्तु ब्रह्मचारी स कथ्यते ।।
गृहिणी पूर्णता नित्या गेहं व्योम सदाचलम् ।
यस्तया निवसत्यत्र गृहस्थः सोऽभिधीयते ।।
सदान्तः प्रस्थितो योऽसौ स्वप्रकाशमये वने ।
वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वने मृगवच्चरन् ।।

परमात्मा च जीवात्मा चात्मन्येव स्फुरत्यलम् ।
तस्मिन्न्यस्तः सदा येन संन्यासी सोऽभिधीयते ॥
(सि० सि० प० ६ । ३४-३७)

(जिस तरह वर्णों के चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास लोक-जीवन में चरितार्थ होते हैं, ठीक उसी तरह अत्याश्रमी—वर्णधर्म के पालन में निरपेक्ष अवधूत को पारमार्थिक—आध्यात्मिक जीवन के धरातल पर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी कहा गया है) । अवधूत व्यापक ज्योतिःस्वरूप आत्मा के बोध से विशिष्ट अभिव्यक्त ब्रह्मज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप का रक्षण करता है, इसलिए वह ब्रह्मचारी है । उसकी अखण्ड आत्मस्वरूप में नित्य स्थिति होती है, यही अखण्ड स्वरूप-स्थिति ही उसकी नित्य संगिनी पत्नी (गृहिणी) है और आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त परब्रह्म में ही वह निवास करता है, तल्लीन रहता है, वह गृहस्थाश्रमी है । वह अपने अन्तःस्वरूप में ही नित्य विचरण (रमण) करता है, यह अन्तःस्वरूप वन आत्मज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण होता है, मृग तो जंगल में विचरण करता है, पर विचरण करने मात्र से ही वह वानप्रस्थ नहीं कहला सकता, जितेन्द्रिय अत्याश्रमी अवधूत ही वास्तव में वानप्रस्थधर्मी है । उसके लिए जीवात्मा और परमात्मा जो क्रमशः उपाधिसहित और उपाधिरहित अखण्ड ज्योतिस्वरूप हैं, अभिन्न विभासित होते हैं और वह ज्योतिस्वरूप आत्मा में समस्त जीवभावादिकों तथा मन के समस्त व्यापारों का विधिपूर्वक न्यास करदेता है, इसलिये वह संन्यासी (कहा जाता) है ।

न वन्दनीयास्ते काष्ठा दर्शनभ्रान्तिकारकाः ।
वर्जयेत्तान् गुरून् दूराद् धीरः सिद्धमताश्रयः ॥
(सि० सि० प० ६ । ७२)

जो गुरु काष्ठ के समान नितान्त जड़बुद्धिवाले हैं और जिनके दर्शन और सन्निधान से मन में परमात्मतत्व के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न होता है, (जो अत्याश्रमी अवधूत नहीं हैं), ऐसे गुरु का सिद्धमत—नाथयोग में दीक्षित साधक को त्याग कर देना चाहिये ।

पद्मपुराण (सत) कपिलगीता में—

दत्तात्रेयादिसिद्धानां नवनाथास्तथैव च ।
शंकरोगुरुरूपेण बोधितश्चात्मतत्वभिः ॥ १ ॥

ऋग्वेदोऽथयजुर्वेदो सामवेदो ह्यथर्वणः ।
सूक्ष्मवेदो ही अध्यक्षः पञ्चवेदाः प्रकीर्तिताः ॥

आत्मतत्वज्ञों ने नाथों और शंकरजी को दत्तात्रेयादिक सिद्धों के गुरुरूप में सम्बोधित किया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद (शब्दों में प्रक स्थूल वेद) और (अनुभवस्वरूप) सूक्ष्म वेद (जिसके द्वारा स्वसंवेद्य स्वरूप का निर्वचन होता है)—पांच वेद के रूप में प्रसिद्ध हैं।

ईश्वर इवाच—

ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
तस्मिन्मध्ये स्थितं तत्वं प्रदर्शयति सद्गुरुः ॥
ओमित्येव परं ब्रह्म सर्वतत्वानुदर्शनम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सर्वानुग्रहकारकम् ॥
तारकं च भवेद् ब्रह्मा दण्डकं विष्णुरुच्यते ।
कुण्डल्यां हि तथा रुद्रो अर्द्धचन्द्रः स ईश्वरः ॥
बिन्दुः सदाशिवः साक्षात् प्रणवे पञ्चदेवताः ।
निरञ्जनस्वदतीतउत्पत्तिस्थितिकारणम् ॥
दुर्लभो विषयत्यागं दुर्लभं तत्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥
विचारदर्पणं यस्य अवलोकनमीक्षितम् ।
दृश्यते तत्वस्वरूपं च तत्रैकं पृच्छ किं नहि ॥
हृदयं दर्पणं यस्य मनस्तत्र विलोकयेत् ।
दृश्यते प्रतिबिम्बेन आत्मरूपं सुनिश्चितम् ॥

ईश्वर कहते हैं—योगीलोग नित्य बिन्दुसंयुक्त ॐकार का ध्यान करते हैं सद्गुरु उस ओंकार के मध्य में स्थित तत्व को प्रकट करते हैं। ॐ ही परब्रह्म और समस्त तत्वों का प्रकाशक है तथा ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त (ठूँठ-स्थावर-जंगम समस्त जीवों पर अनुग्रह करनेवाला है, सभी का पोषण करता है। ब्रह्मा तार हैं, विष्णु दण्डक कहे जाते हैं, कुण्डली में रुद्र का निवास है, ईश्वर अर्धचन्द्र तथा बिन्दु साक्षात् सदाशिव का स्वरूप है, इस प्रकार ॐ में इन पाँच देवता का निवास है। अलख-निरंजन परब्रह्म सदाशिव माया से निर्लिप्त, मायातीत त उत्पत्ति एवं स्थिति के कारण हैं। सद्गुरु की कृपा के बिना विषयों का त्याग हो दुष्कर (कठिन) है, तत्वज्ञान दुर्लभ है और सहजावस्था की प्राप्ति कठिन है

जो विचार को दर्पण बनाकर उसमें आत्मस्वरूप के दर्शन, चिन्तन अथवा अनुभव की इच्छा करता है, उसे वहाँ अपने सत्स्वरूप का दर्शन होता है। इस विषय में किसी से भी पूछा (जिज्ञासा की) जाय कि क्या ऐसा नहीं है? अर्थात् शरीर की छाया का दर्शन तो होता ही है, जो हृदय को दर्पण बनाकर उसमें अपने मन का दर्शन करता है, उसमें निश्चय ही प्रतिबिम्बरूप से आत्मस्वरूप का दर्शन होता है। आत्मा की विद्यमानता भाषित होती है:

अवधूत गीता में—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सम्पूर्णपरमात्मनि।
भिन्नाभिन्नं न पश्यामि तस्याहं पञ्चमाश्रमी॥
आशापाशविनिर्मुक्तमादिमध्यान्तनिर्मलम्।
अनन्तानन्दब्रह्मज्ञः अकारं तस्य लक्षणम्॥
वासना वर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम्।
वर्तमानेषु वर्तेत वकारं तस्य लक्षणम्॥
धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तनिरामयम्।
ध्यानधारणनिर्मुक्तं धूकारं तस्य लक्षणम्।
तत्त्वचिन्ता येन धूता चिन्ताचेष्टाविवर्जिता।
तमहंकारनिर्मुक्तं तकारं तस्य लक्षणम्॥

(८। ६—९)

ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त (ठूँठ-स्थावर-जंगम) समस्त चराचर जगत् परमात्मा में ही स्थित है, इसी कारण पञ्चम आश्रम अर्थात् अवधूत-अवस्था में स्थित मैं किसी को भी उस परमात्मा से भिन्न अथवा अभिन्न नहीं देखता, क्योंकि सर्वत्र परमात्मा–ही–परमात्मा है। (अब अवधूत योगी में अवधूत शब्द के चारों वर्णों का लक्षण निरूपित करते हैं—) जो आशारूप पाश से सर्वथा मुक्त हो गया है, जिसका आदि, मध्य और अन्त निर्मल है तथा जो अनन्तानन्दस्वरूप ब्रह्म का ज्ञाता है, वह अकार के लक्षणों से युक्त है। जिसने विषय-वासनाओं का परित्याग कर दिया है, जिसका वचन निर्दोष (सत्य) होता है और जो वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार करता है, उसमें वकार के लक्षण प्रकट हैं। जिसका शरीर धूलि से धूसरित है, चित्त पवित्र एवं निर्दोष है तथा जो ध्यान और धारणा से मुक्त होकर (अतीत होकर) ऊर्ध्व स्थिति में उन्मनी समाधि में लयावस्था में स्थित है, उसमें धूकार के लक्षण घटित होते हैं। जिसने तत्त्वप्राप्ति की चिन्ता समाप्त कर दी है अर्थात् जिसे सत्यस्वरूप का बोध हो गया है, जो चिन्ता और चेष्टा

से मुक्त है तथा जिसमें अहंकार का लेशमात्र भी नहीं है, उसे तकार के लक्षणों से सम्पन्न कहा जाता है।

शिवं न जानामि कथं वदामि शिवं च जानामि कथं वदामि।
अहं शिवश्चेत् परमार्थरूपं स्वच्छस्वभावं गगनोपमं च॥
(१।२७)

मैं शिव को नहीं जानता, अतः उसके स्वरूप और तत्व का किस तरह वर्णन करूँ? और मैं शिव को जानता भी हूँ तो भी उसका वर्णन किस तरह करूँ; क्योंकि उसके स्वरूप को समझने में सर्वथा असमर्थ हूँ। वह दुर्बोध और वर्णन से अतीत है, एकमात्र अनुभवगम्य है। यदि मैं ही शिवस्वरूप हूँ तो मैं आकाश के सदृश निर्मल हूँ, मेरा स्वभाव स्वच्छ (निरंजन, माया से सर्वथा अलिप्त) है और मैं परमार्थस्वरूप हूँ, साक्षात् शिव हूँ।

वेदा न लोका न सुरा न यज्ञः वर्णाश्रमौ नैव कुलं न जातिः।
न धूममार्गो न च दीप्तिमार्गो ब्रह्मैव रूपं परमार्थतत्वम्॥
(१।३४)

न वेद, न लोक, न देवता, न यज्ञ, न वर्ण, और न आश्रम, न कुल, न जाति, न धूममार्ग, न दीप्तिमार्ग (धूममार्ग में धूमाभिमानी, रात्रि-अभिमानी देवता है, दक्षिणायन के छः माह का अभिमानी देवता है, इस मार्ग से शरीर त्यागने वाला योगी शुभ कर्म का फल भोग कर फिर शरीर में जन्म लेता है। दीप्तिमार्ग अर्चि-मार्ग देवयान है, उत्तरायण है, इसमें शरीर-त्याग करने पर परम गति मिलती है।) कोई भी ब्रह्म-प्राप्ति में सहायक नहीं है, केवल परमार्थतत्व ही ब्रह्मस्वरूप है।

व्याप्यव्यापकनिर्मुक्तं त्वमेकः सकलं यदि।
प्रत्यक्षं चापरोक्षं च आत्मानं मन्यसे कथम्॥
(१।३५)

यदि आप व्याप्य और व्यापक भाव से मुक्त होकर एकाकी स्वरूप में स्थित हैं, तो अपने आप को प्रत्यक्ष और अपरोक्ष किस तरह मानते हैं?

आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन।
स्वभावनिर्मलः शुद्ध इति मे निश्चला मतिः॥
(१।४४)

मैं आदि, मध्य और अन्त से रहित हूँ, किसी भी अवस्था में मैं बँधा हुआ (परतंत्र अथवा बद्ध) नहीं हूँ, मेरा स्वभाव निर्मल है और मैं शुद्ध हूँ—इस तरह मेरी मति इस विषय में निश्चयात्मिका है—स्थिर है।

न बद्धो नैव मुक्तोऽहं न चाहं ब्रह्मणः पृथक्।
न कर्त्ता नैव भोक्ताऽहं व्याप्यव्यापकवर्जितः॥
(१।५०)

मैं न बँधा हुआ हूँ, न मुक्त हूँ, न मैं कर्त्ता हूँ, न भोक्ता ही हूँ और न ब्रह्म से पृथक ही हूँ, अपितु व्याप्य-व्यापक-भाव से परे (ब्रह्मस्वरूप ही) हूँ।

न जातोऽहं मृतो वापि न मे कर्म शुभाशुभम्।
शुद्धोऽहं निर्गुणं ब्रह्म बन्धमुक्ती कथं मम्॥
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्ण इति स्मृतः।
अन्तरं न हि पश्यामि सबाह्याभ्यन्तरः कथम्॥
(१।५९-६०)

न तो मैंने जन्म लिया है, न मेरी मृत्यु ही हुई है और न मेरा कोई शुभ-अशुभ कर्म ही है। मैं तो शुद्धस्वरूप, गुणातीत ब्रह्म हूँ, फिर मेरे लिये बन्धन और मुक्ति का प्रश्न ही किस तरह उठ सकता है? यदि ब्रह्मदेव सर्वव्यापी, स्थिर और पूर्ण है—ऐसा कहा जाता है तथा उसमें कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता तो फिर वह बाह्य और आभ्यन्तर भाव से युक्त फिर किस तरह हो सकता है।

भावगम्यं निराकारं साकारं दृष्टिगोचरम्।
भावाभावविनिर्मुक्तमन्तरालं तदुच्यते॥
(२।१८)

निराकार अलख निरंजन परमेश्वर का तत्वबोध-दर्शन भावद्वारा किया जाता है, (निराकार परमात्मा अनुभवगम्य है) और साकार परमात्मा का प्रत्यक्ष (दर्शन दिव्य चक्षु से) होता है तथा जो भाव-अभाव अर्थात् साकार-निराकार-दोनों रूपों से सर्वथा परे है, (उसे अलक्ष्य, अलख) अन्तराल (साकार-निराकारविवर्जित सत्यस्वरूपस्थ) कहा जाता है।

साकारं च निराकारं नेति नेतीति सर्वथा।
भेदाभेदविनिर्मुक्तं वर्तते केवलं शिवः॥

दिवानक्तं न ते चित्तं उदयास्तमयौ नहि ।
विदेहस्य शरीरित्वं कल्पयन्ति कथं बुधाः ॥
न ते च माता न पिता न बन्धुर्न ते च पत्नी न सुहृन्न पुत्रः ।
न पक्षपातो न विपक्षपातः कथं हि सत्तासि रजो हि चेतः ॥
धर्मार्थकाममोक्षं च द्विपदादिचराचरम् ।
मन्यन्ते योगिनः सर्वं मरीचिजलसन्निभम् ॥

वह परब्रह्म (परमेश्वर शिव) न तो सर्वथा साकार है, न निराकार ही है, यह कहा ही नहीं जा सकता कि वह ऐसा ही है, अपितु भेद और अभेद से रहित केवल शिवस्वरूप है । जब तुम्हारे चित्त में न दिन है, न रात और न सूर्य का उदय है, न अस्त है, तब विद्वान् लोग शरीरहीन (निराकार) के शरीर-धारणत्व (साकार होने) की कल्पना किस तरह करते हैं ? अरे रजोगुणी चित्तवाले (लौकिक जन) न तो तुम्हारी माता है, न पिता है—न बन्धु है, न पत्नी है, न मित्र है, न पुत्र है, न कोई पक्षपाती है और न कोई विरोधी है, तब जिनके बल पर तुम अपने को सत्तावान मानते हो, उनसे सम्बन्ध टूट जाने पर तुम्हारी सत्ता किस तरह शुद्ध हो सकती है ? योगी लोग धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष पुरुषार्थचतुष्टय तथा मानव से लेकर समस्त चराचर जगत् को मृगतृष्णा का जल मानते हैं, असत् और मायिक समझते हैं ।

विन्दति विन्दति नहि नहि मन्त्रश्छन्दो लक्षणमिह नहि तन्त्रः ।
समरसमग्नो भावितपूतः प्रलपति तत्वं परमवधूतः ॥
(५ । ३२)

जिसको न तो मन्त्र मानता है, न छन्दों के लक्षण ही जान पाते हैं और न तन्त्र की ही जिसमें गति है, उस परम तत्व की समरस में व्यष्टि पिण्ड से परपिण्ड की एकात्मकता में निमग्न रहनेवाला तथा परमात्मचिन्तन द्वारा पवित्रात्मा अवधूत योगी ही प्राप्ति कर सकता है । उसमें आत्मलीन-स्वस्थ हो सकता है ।

अद्वैतरूपमखिलं हि कथं वदामि नित्य ह्यसत्यमखिलं हि कथं वदामि ।
सत्यं ह्यसत्यमखिलं हि कथं वदामि ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥
(३ । ५)

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् अद्वैतरूप है—ऐसा मैं किस तरह कहूँ, सम्पूर्ण विनाशी (असत्) जगत् नित्य है—ऐसा किस तरह कहूँ तथा समस्त मायाकल्पित

ससार सत्य है, ऐसा भी मैं किस तरह कहूँ, क्योंकि मैं तो ज्ञानामृत से सम्पन्न समरस में निमग्न परमात्मस्वरूप एवं आकाश के समान (द्वैताद्वैतप्रपंच से शून्य) निर्मल (माया से अलिप्त) हूँ।

ब्रह्मादयः सुरगणाः कथमत्र सन्ति स्वर्गादयो वसतयः कथमत्र सन्ति ।
यद्येकरूपममलं परमार्थतत्वं ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥
(३ । ३४)

यदि मैं अद्वितीय, मलरहित, परमार्थतत्वरूप, ज्ञानामृत-सम्पन्न, समरस में निमग्न एवं आकाश के समान (द्वैताद्वैतप्रपञ्च से शून्य-माया से अलिप्त) निर्मल हूँ तो फिर ब्रह्मा आदि देवगणों की सत्ता किस तरह सिद्ध हो सकती है तथा स्वर्गादि लोकों की स्थिति किस तरह सम्भव हो सकती है ?

मायाप्रपञ्चरचना न च मे विकारः कौटिल्यदम्भरचना न च मे विकारः ।
सत्यानृतेतिरचना न च मे विकारो ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥
(३ । २७)

(मैं तो शुद्ध परमात्मस्वरूप हूँ, इसलिए) माया द्वारा रचित यह सृष्टि मेरा विकार नहीं है, कुटिलता और दम्भ की रचना मेरा विकार (मेरे द्वारा प्रस्तुत परिवर्तन-रूपान्तर) नहीं है और सत्य एवं असत्य की परिकल्पना भी मेरी मनोवृत्ति नहीं है। मैं तो ज्ञानामृत से सम्पन्न समरस में निमग्न एवं आकाश के समान (द्वैताद्वैतप्रपञ्च से रहित, शून्य—माया से अलिप्त) निर्मल हूँ।

न शून्यरूपं न विशून्यरूपं न शुद्धरूपं न विशुद्धरूपं ।
रूपं विरूपं न भवामि किञ्चित् स्वरूपरूपं परमार्थसत्त्वम् ॥
(३ । ४५)

मैं न शून्य रूप हूँ, और न विशून्य रूप हूँ, न शुद्ध रूप हूँ, न विशुद्ध रूप हूँ, मैं रूपवान् अथवा रूपरहित, कुछ भी नहीं हूँ, मैं तो केवल परमार्थसत्वरूप आत्मरूप ही हूँ, निर्विकार, निराकार निरंजन परमात्मस्वरूप में अभिव्यक्त आत्मा हूँ।

नावाहनं नैव विसर्जनं च पत्राणि पुष्पाणि कथं भवन्ति ।
ध्यानानि मन्त्राश्च कथं भवन्ति समासमं सर्वशिवार्चनं च ॥
(४ । १)

जिस (आत्मस्वरूप सच्चिदानन्द एकमात्र अलख-निरंजन) के लिए न आवाहन है और न विसर्जन ही है, उसके लिए (उसकी पूजा के लिए) पत्र-पुष्प का संग्रह करना किस तरह उचित हो सकता है तथा ध्यान और मन्त्रों की कल्पना भी किस तरह की जा सकती है। इस आत्मस्वरूप के चिन्तन में सम (कर्म) अथवा असम (अकर्म) जो कुछ भी है, सब शिवार्चन ही है।

मूर्खोऽपि नाहं न च पण्डितोऽहं मौनं च वार्ता न च मे कदाचित्।
तर्कवितर्कं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम्॥
(४।२०)

न तो मैं मूर्ख हूँ और न पण्डित ही हूँ, न मैं मौन रहता हूँ और न कभी वार्तालाप में ही प्रवृत्त रहता हूँ। तर्क-वितर्क का आश्रय ही किस तरह मैं ले सकता हूँ, क्योंकि मैं तो स्वरूप के ही चिन्तन में लीन और निर्दोष हूँ, निष्प्रपञ्च हूँ।

अस्तंगतो नैव सदोदितोऽहं तमश्च तेजो न च मे विभाति।
सन्ध्यादिकं कर्म कथं करोमि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम्॥
(४।२२)

मैं कभी अस्त (अदृश्य तथा विनष्ट) नहीं होता, सदा उदित ही रहता हूँ इसलिए न तो मेरे समक्ष अन्धकार आता है और न तेज ही मुझे प्रकाशित करता है, (मैं कालबाधित नहीं हूँ, शाश्वत सनातन अविनाशी हूँ) अतः मैं सन्ध्या आदि (नित्य-नैमित्तिक) कर्म कैसे करूँ, मैं तो आत्मस्वरूप में लीन एवं निर्दोष हूँ— सच्चिदानन्द हूँ।

इह तत्त्वमसिप्रभृतिश्रुतिभिः प्रतिपादितमात्मनि तत्त्वमसि।
त्वमुपाधिविवर्जितसर्वसमं किमु रोदिषु मानव सर्वसमम्॥
(५।२)

यहाँ 'तत्वमसि' आदि श्रुतियों द्वारा ऐसा प्रतिपादन किया गया है, कि तत्वमसि का रहस्य आत्मा में ही विद्यमान है 'त्वम्' की उपाधि से रहित सब कुछ एक-सा है, हे मनुष्य! जब सब कुछ आत्मस्वरूप है, समान है, तब क्यों रोते हो, चिन्तित हो?

नहि कल्पितभागविभाग इति नहि रागविरागविचार इति।
पदसन्धिविवर्जितसर्वसमं किमु रोदिषि मानव सर्वसमम्॥
(५।४)

न हि कल्पितभागविभाग इति नहि रागविरागविचार इति।
पदसन्धिविवर्जितसर्वसमं किमु रोदिषि मानव सर्वसमम्॥
(५।४)

न तो भाग-विभाग की कल्पना है और न राग-विराग का विचार ही है। पद-सन्धि से रहित सब कुछ एक समान है, कहीं असमानता है ही नहीं। हे मानव! जब सब कुछ समान है, सर्वत्र आत्मस्वरूप ही है, तब तुम क्यों रो रहे हो, चिन्तित क्यों होते हो?

अविवेकविवेकमबोध इति अविकल्प-विकल्प विबोध इति।
यदि चैकनिरन्तरबोध इति किमु रोदिषि मानव सर्वसमम्॥
(५।१०)

विवेक-अविवेक सब कुछ अज्ञानस्वरूप ही है और विकल्प-अविकल्प भी ज्ञानरहित है। यदि एकमात्र निरन्तर सर्वत्र (आत्मस्वरूप के) ज्ञान की ही स्थिति है, तो हे मानव! तुम क्यों रो रहे हो, चिन्तित होते हो? सब कुछ आत्मस्वरूप ही है।

बहुधा श्रुतयः प्रविदन्ति यतो वियदादिरिदं मृगतोयसमम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वसमं किमु रोदिषि मानव सर्वसमम्॥
(५।११)

श्रुतियाँ जिससे बहुधा ऐसा ज्ञान प्राप्त करती हैं कि यह आकाशादि तत्व (पाँचभौतिक पदार्थ) मृगमरीचिका के समान हैं, विनश्वर दृश्यमात्र—असत् हैं। यदि एकमात्र यह आत्मतत्व निरन्तर सब में समान रूप से व्याप्त है, तो हे मनुष्य! सब कुछ समान (आत्मस्वरूप) होते हुए तुम क्यों रो रहे हो, चिन्ताग्रस्त हो?

सविभक्तिविभक्तिविहीनपरमणुकायविकायविहीनपरम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं यजनं च कथं स्तवनं च कथम्॥
(६।२)

यदि विभक्तिसहित अथवा विभक्तिरहित एवं सूक्ष्म शरीरयुक्त अथवा शरीर-हीन एकमात्र ब्रह्म सर्वत्र निरन्तर शिवरूप से व्याप्त है तो फिर उसके यजन (पूजन) और स्तवन का क्या औचित्य है? परब्रह्म परमात्मा शिव तो निराकार निरंजन और स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है, परम कैवल्यरूप है।

दिनरात्रिविभेदनिराकरणमुदितानुदितस्य निराकरणम् ।
यदि चैकनिरंतरसर्वशिवं रविचन्द्रमसौ ज्वलनश्च कथम् ॥
(६ । ४

यदि दिन और रात्रि के भेद का तथा उदय-अस्त का निराकरण कर देना और एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही सर्वत्र शिवरूप से निरन्तर व्याप्त है, तो सूर्य चन्द्रमा और अग्नि की स्थिति ही किस तरह सिद्ध होती है । (सूर्य, चन्द्रमा तेज सब-के-सब उसी परमात्मा से प्रकाशित हैं ।)

न च आश्रमवर्णविहीनपरो न तु कारणकर्तुविहीनपरः ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं गुणदोषविचारवचांसि कथम् ॥

यदि वह परमात्मतत्व परब्रह्म न वर्ण-आश्रम के धर्म से अतीत है और युक्त है तथा कारण और कर्तापन से न परे है अथवा न युक्त है, एकमात्र शिवरू से ही निरन्तर सर्वत्र व्याप्त है तो गुण-दोष (है या नहीं, ऐसा है, ऐसा नहीं आदि) के विचारसंगत वचनों से उसके स्वरूप का निर्वचन किस तरह युक्ति संगत है ।

खेचरी-मुद्रा का स्वरूप

हठयोगप्रदीपिका में :—

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥
(१ । ६७

योगाभ्यास में तत्पर साधक को ही सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है । निष्क्रि (योगाभ्यासरहित व्यक्ति) को वह किस तरह सुलभ हो सकती है ? यदि शास्त्रों में योगसाधना की विधि पढ़ कर ही सिद्धि प्राप्त कर ले, योगसिद्ध हो ज तो यह कदापि सम्भव नहीं है ।

वर्जयेद्दुर्जनप्रीतिं (प्रान्त) वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।
प्रातः स्नानोपचारादि (उपवासादि) कायक्लेशादिकं (काय-
क्लेशविधिं) तथा ॥

योगाभ्यासी को दुर्जनों से प्रेम अथवा दुष्टों के साथ निवास, अग्नि का तापना, स्त्री-प्रसंग, इधर-उधर आना-जाना, प्रातः स्नान, उपवास तथा शरीर को क्लेश पहुँचाने वाले सभी दूसरे-दूसरे उपायों का परित्याग कर देना चाहिए।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥
(२।२)

(योगी के लिये प्राणायाम करते रहना आवश्यक है।) प्राणवायु के चंचल रहने पर चित्त भी चंचल रहता है और प्राणवायु के संयमित होने पर चित्त भी निश्चल (वश में) हो जाता है। इस तरह प्राणवायु और चित्त के स्थिर होने पर योगी स्थाणु (खम्भे) की तरह निश्चल, जरा और रोग से रहित होकर सुदृढ़ शरीरवाला हो जाता है, इसलिये वायु का निरोध (संयम) करना चाहिए।

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः।
तेन सिद्धिं गतास्ते च (अभूवन्नंतकभयात्)
तस्मात्पवनमभ्यसेत्॥
यावद्देहे मरुद्बद्धस्तावच्चित्तं निरामयम्।
(यावद् बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम्।)
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः॥
(२।३९-४०)

ब्रह्मा आदि देवगण भी प्राणायाम (प्राणवायु के संयम) में तत्पर थे। इसी कारण उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी (वे मृत्यु के भय से छूटने के लिये प्राणवायु के निरोध में प्रवृत्त रहते हैं) इसलिये वायु-निरोध का अभ्यास करना चाहिए। जब तक शरीर में (प्राणायाम द्वारा) वायु है, तब तक चित्त स्थिर बना रहता है और जब तक (ध्यानावस्था में) दृष्टि भौहों के मध्यभाग में स्थिर रहती है, तब तक योगी को मृत्यु का भय नहीं रहता अर्थात् काल उसका बाल भी बांका नहीं कर सकता।

कलां पराङ्मुखीकृत्य त्रिपथे परिवर्तयेत् (परियोजयेत्)।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते॥
(३।३७)

(उपर्युक्त क्रिया—जिह्वा-मूल के शिराबन्धन जो कपाल कुहर को रोके रहता है, के छेदन—द्वारा जब जिह्वा ऊपर की ओर हो जाय, तब) जिह्वा को पीछे की ओर लौटा कर इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा—इन तीनों नाड़ियों के मार्ग पर लगा देना चाहिए। यही खेचरी मुद्रा है और इसी को व्योमचक्र भी कहा जाता है।

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोत:समन्वितम्।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्न् शून्ये निरञ्जने ।।
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्बश्चैकावस्था मनोन्मनी ।।
(३। ५३-५४)

जब इड़ा आदि पाँच नाड़ियों के प्रवाह से युक्त कपाल में स्थित छिद्र ज्ञान उत्पन्न करता है (खेचरी-मुद्रा के प्रभाव से जब मन कपाल के छिद्र में प्रविष्ट होता है, तब आत्मज्ञान होता है) तब उस (मायातीत) निरंजन-शून्य तत्व में खेचरी-मुद्रा की स्थिरता होती है। जिस प्रकार सृष्टिमय बीज-प्रणव एक है, निराधार निरालम्ब (निराकार) देवता एक मात्र परमात्मा है और योगसिद्धि (आत्म-साक्षात्कार) की अवस्थाओं में मन की उन्मनी अवस्था ही सर्वश्रेष्ठ है, उसी तरह मुद्राओं में खेचरी-मुद्रा ही प्रधान कही गयी है।

अयं योगः पुण्यवतां धन्यानां तत्वशालिनाम्।
(धीराणां तत्वदर्शिनाम्)
निर्मत्सराणां सिद्धेन न तु मत्सरशालिनाम् ।।
(३। ६५)

यह योग पुण्यात्मा, ऐश्वर्यशाली, दिव्यसम्पत्ति से युक्त तत्वदर्शी (आत्म तत्व चिन्तक) और ईर्ष्यारहित (द्वेषरहित) पुरुषों को ही सिद्ध होता है, जो लोग मत्सर-युक्त हैं, एक-दूसरे से डाह करते हैं, उन्हें योगसिद्धि दुर्लभ है।

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ।।
(४। ८)

राजयोग की महिमा को स्वरूपतः (अच्छी तरह) कौन जानता है, ज्ञान से साध्य नहीं है, यह योगस्थ होकर परमात्मा में सहज-स्वाभाविक रूप

चित्तवृत्ति के लगने पर योगी के लिये सुलभ होता है। ज्ञान, मोक्ष, स्थिति और सिद्धि की प्राप्ति सद्गुरु (योगसिद्धअत्याश्रमी अवधूत) के उपदेश से होती है।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते।
दृष्टया निश्चलतारया बहिरसौ (अधः)पश्यन्नपश्यत्यपि॥
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा (युष्मत्) प्रसादाद् गुरो।
शून्याशून्यविवर्जितं (विलक्षणं) स्फुरति तत्त्वं परं शाम्भवम्॥
(४। ३७)

जब योगी अपने चित्त और वायु को अन्तर्लक्ष्य में विलीन कर देता है और निश्चल तारिकावाली दृष्टि से बाहरी पदार्थों को देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता, तब यह शाम्भवी मुद्रा सिद्ध होती है। (गुरुदेव परब्रह्म शिवस्वरूप) वह मुद्रा (आप की कृपा से ही प्राप्त होती है अथवा) गुरु की कृपा और प्रसन्नता से सिद्ध होती है और उसके सिद्ध होने पर चित्त में उस शाम्भव रूप परब्रह्म शिवस्वरूप परमतत्व का स्फुरण होता है, जो शून्य और अशून्य से विलक्षण (अतीत अथवा रहित) एकमात्र परम कैवल्य- स्वरूप अलख-निरंजन है।

अर्द्धोद्घाटित (अर्द्धोन्मीलित) लोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पन्दभावेन यः।
ज्योतीरूपमशेष (बीजमखिलं) बाह्यरहितं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम्॥

(उन्मनी अवस्था में योगी के नेत्र आधे खुले और आधे बन्द रहते हैं।) जो योगी नेत्रों को अध खुला रखकर मन को स्थिर कर अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर (आज्ञाचक्र-स्वच्छ आकाश में) एकाग्र करके निष्पन्द भाव से प्राण-वायु को संयमित कर सूर्य और चन्द्रमा को भी (हठयोग के द्वारा सूर्यनाड़ी—पिंगला और चन्द्रनाड़ी इड़ा को) सुषुम्ना में विलीन कर देता है, वह अत्यन्त देदीप्यमान, ज्योति:स्वरूप अखिल ब्राह्य भावों (मन और इन्द्रियों के विषय-व्यापारों) से रहित परमवस्तुस्वरूप उस तत्वपद (परमपद) को प्राप्त कर लेता है, इस सम्बन्ध में और अधिक क्या कहा जाय ?

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरीनाम मुद्रा सिद्धैर्नमस्कृता॥
(३। ४१)

इस खेचरी मुद्रा में चित्त भौहों के बीच में स्थित आज्ञाचक्र–आकाश में प्रवेश करता है और जिह्वा भी वहीं (भौहों के बीच में) आकाश में जाकर विचरण करती है, इसी कारण सिद्धयोगेश्वरों द्वारा वन्दित इस मुद्रा का नाम खेचरी है ।

सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालम्बेऽनिले (निरालम्बान्तरं) पुनः ।
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥
(४ । ४५)

जो मुद्रा सूर्य (दक्षिणनाड़ी, पिंगला) और चन्द्रमा वामनाड़ी, इड़ा) के मध्य में शून्यप्राणवायु का ग्रास करनेवाले आश्रयरहित व्योमचक्र में स्थित रहती है, वह खेचरी नाम की मुद्रा है ।

निरालम्बं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।
स वाह्याभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥
(४ । ५०)

योगी को चाहिए कि वह मन को आश्रयरहित करके मन की सारी वृत्तियों का निरोध करे, किसी की भी चिन्ता न करे (दोनों भौहों के मध्य में स्थित आकाश चक्र में एकमात्र स्थित शिव में मन को विलीन करे) तब वह निश्चय ही बाह्य और आभ्यन्तर आकाश में खाली घड़े की तरह स्थित होता है अर्थात् जिस तरह घड़ा रिक्त बाहर-भीतर आकाश में पूर्ण होता है, उसी प्रकार योगी ब्रह्म (परमशिव) में स्वस्थ हो जाता है ।

आरम्भावस्था

ब्रह्मग्रन्थिर्भवेद्भिन्ना ह्यानन्दः शून्यसम्भवः ।
विचित्रः क्वणिको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥
दिव्यगन्धोदिव्यचक्षुस्तेजस्वी स्यादरोगवान् ।
सम्पूर्णं हृदयः शून्य आरम्भो योगवान्भवेत् ।
(४ । ७०–७१)

(प्राणायाम के अभ्यास से) जब ब्रह्मग्रंथि का भेदन हो जाता है, तब शरीर के भीतर हृदयाकाश से उत्पन्न आभूषण की-सी विचित्र आनन्ददायिनी अनाहतध्वनि सुनाई पड़ती है । उस समय साधक के शरीर से दिव्य गन्ध निकलती

है, वह दिव्य-चक्षुयुक्त हो जाता है अर्थात् उसकी बुद्धि दिव्य हो जाती है। वह तेजस्वी और नीरोग हो जाता है, उस (आरम्भावस्था में स्थित) योगी के हृदय में योग ज्ञान का प्रकाश भर जाता है। यह योगसाधना की दिशा में प्राणायाम, मुद्राबन्ध, चक्रभेदन और कुण्डलिनी के प्रबोधन द्वारा आरम्भावस्था कही जाती है।

घटावस्था

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः।
दृढ़ासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तथा॥
विष्णुग्रन्थिर्यदा भिन्ना परमानन्दसूचकः।
अतिशून्यविमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत्॥ (४। ७२-७३)

दूसरी घटावस्था है, इसमें प्राणवायु अपानवायु, नाद और बिन्दुको सम्मिलित करके (कण्ठदेश में स्थित विशुद्ध चक्र) मध्यचक्र में प्रवेश करती है। उस समय आसनसिद्ध योगी योगज्ञानसम्पन्न तथा देवता के समान हो जाता है, जब विष्णु ग्रन्थि का भेदन होता है और इस तरह अतिशून्य कण्ठदेश में स्थित विशुद्धचक्र का भेदन हो जाता है, तब परमानन्द की प्राप्ति करानेवाली भेरी का-सा शब्द सुनाई पड़ता है, जिसमें योगी पूर्ण निमग्न हो उठता है।

परिचयावस्था

तृतीयायां ततो भित्वा विज्ञेयो मर्दलध्वनिः।
महाशून्यं तदायाति सर्वसिद्धिसमाश्रयम्॥
चित्तानन्दं ततो जित्वा सहजानन्दसम्भवः।
दोषदुःखक्षुधानिद्राजरामृत्युविवर्जितः॥
(४। ७४-७५)

तीसरी परिचय अवस्था है, इसमें जब प्राणवायु विशुद्ध चक्र का भेदन कर संपूर्ण सिद्धियों के केन्द्र महाशून्य अर्थात् भौंहों के मध्यवर्ती आकाश में प्रवेश करती है, तब मर्दल नामक वाद्य-विशेष की-सी ध्वनि सुनायी पड़ती है। इसके बाद चित्तानन्द को जीत लेने पर अमनस्क अवस्था अथवा उन्मनी समाधि की प्राप्ति हो जाने पर योगी को सहजानन्द की प्राप्ति हो जाती है, जिससे वह दोष (चित्त के विकार अथवा मल) दुःख, भूख, निद्रा, बुढ़ापा, और मृत्यु से छूट जाता है।

निष्पत्ति अवस्था

रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा शर्वपीठगतोऽनिलः।
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत्॥ (४। ७६)

(नाद की चौथी अवस्था निष्पत्ति है, इसमें) जब प्राणवायु रुद्रग्रन्थि का भेदन करके शर्वपीठ अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में जाती है, तब उसे निष्पत्ति-अवस्था कहते है। इस अवस्था में वंशी और वीणा का-सा शब्द सुनाई पड़ता है। (इस निष्पत्ति अवस्था में शरीर, मन प्राण आदि पर विजय कर योगी द्वन्द्वों से परे होकर आत्मस्वरूप में तल्लीन रहकर परमेश्वर शिव के साक्षात्कार द्वारा कैवल्यानुभूति की प्राप्ति करता है।)

नादानुसन्धान से राजयोग की प्राप्ति

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखण्डितं महत्।
लयामृतमिदं (लयोद्भवमिदं) सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥
(४ । ७८)

ऊपर कहे हुए साधनों द्वारा मुक्ति की प्राप्ति हो या न हो, पर महान् अखण्ड सुख तो नादानुसन्धान में ही है और यह लय से उत्पन्न अमृतस्वरूप सुख राजयोग से ही प्राप्त होता है।

राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायं सुचेतसाम् (सुखोपायोल्पचेतसाम्।
सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः ॥
नादानुसंधानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदये प्ररूढम्।
आनन्दमेकं वचसाम (गम्यं) वाच्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एव।
(४ । ८०-८१)

राजयोगपद की प्राप्ति (और उन्मनी अवस्था) के लिये भौहों के मध्य में ध्यान करना विद्वानों के लिये भी सुगम उपाय है, अथवा अल्पबुद्धि वालों के लिये सहज सुलभ अभ्यास है, क्योंकि नादसे उत्पन्न चित्त का लय तत्काल ही प्रत्यय का संधान करनेवाला होता है। नादानुसन्धानरूप समाधि में स्थितिवाले योगीश्वरों के हृदय में एक ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है (बढ़ता है), जिसका वाणी द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता है। (वह अनुभवगम्य होता है) उसे एकमात्र श्रीगुरुनाथ ही जानते हैं।

नादकोटिसहस्राणि बिन्दुकोटिशतानि च।
सर्वे तत्र लयं यान्ति यत्र देवो निरञ्जनः ॥
(योगसाहस्री २ । ६८)

जहाँ मायातीत अलखनिरंजन परमात्मदेव विद्यमान है, वहाँ हजारों करोड़ों-नाद और सैकड़ों-करोड़ों बिन्दु, सब-के-सब उसमें (परमात्मा में) विलीन हो जाते हैं।

योगिनां ज्ञानविदुषामन्येषां च महात्मनाम्।
प्राप्तं तं कालपुरुषं सुविज्ञाप्यं विचक्षणैः॥

योगज्ञान के मर्मज्ञों द्वारा योगियों, ज्ञानियों, विद्वानों तथा अन्यान्य (सभी) महात्माओं के प्रति उस कालपुरुष के आगमन का सुचारुरूप से वर्णन करना चाहिए।

यावन्नैव प्रविशति मरुद्विज्वरो मध्यमार्गे
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढ़ प्राणवत्सुप्रबद्धः।
यावद्ध्योम्नः सहजसदृशं जायते नैव तत्वं
तावत्सर्वं वदति यदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः॥

जब तक प्राणवायु सरलतापूर्वक मध्यमार्ग अर्थात् भौंहों के मध्यवर्ती आकाश में प्रवेश नहीं करता, जब तक बिन्दु अच्छी तरह प्राणवायु के समान बँधकर दृढ़ नहीं हो जाता और जब तक सहज निर्मल आकाश की तरह (अलख-निरंजन परमात्म) तत्व की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक जो कुछ भी तत्व के सम्बन्ध में कहा जाता है, वह सब दम्भ और मिथ्या असत् प्रलापमात्र ही है।'

नाथसिद्धान्त का महत्व और उसका स्वरूप

हठयोगप्रदीपिका के दशमोपदेश में —

आदिनाथोदितं सर्वमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि॥
(३ । ८)

श्रीआदिनाथ द्वारा (महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डयानबन्ध, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालिनी मुद्रा, दस मुद्रा-सम्बन्धी (योगमहाज्ञान) उपदिष्ट (कहा गया) समस्त योगवाङ्मय आठ ऐश्वर्य (अर्थात् अणिमादि अष्ट सिद्धियों) को देनेवाला और सभी सिद्धों के लिये अत्यन्त प्रिय है। यह देवताओं के लिये भी दुर्लभ कहा गया है।

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

(३ । ४०)

जो खेचरी मुद्रा को जानता है, खेचरी-मुद्रा के अभ्यास में पारंगत है, वह न तो रोग से पीड़ित होता है, न कर्म से लिप्त ही होता है तथा काल भी उसे बाधा नहीं पहुँचा सकता है, उसे मृत्यु का भी भय नहीं रहता है।

ऊर्ध्वं षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयेत्।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामृतं यः पिबे-
न्निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी परं जीवति ॥
यत्प्रालेयं विशति सुषिरं मेरुमूले वदस्ति-
तस्मिंस्तत्वं प्रविशति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुस्तेन मृत्युर्नराणां
तं बध्नीयात् सुकरणमथो नान्यथा कायसिद्धिः ॥

(३ । ५१-५२)

जो योगी ऊपर मुख करके जिह्वा को कपालरन्ध्र में स्थित कर पराशक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करता है और प्राणवायु के साधन अथवा हठयोग से प्राप्त हुए ऊर्ध्वस्थित सोलह दलवाले कमल से धारारूप में गिरते हुए उत्ताल तरंगोंवाले निर्मल (चन्द्रकलामृत) अमृतस्वरूप (सोम) रस का पान करता है, उसका शरीर कमाल-नाल के तन्तु के समान कोमल हो जाता है (लावण्ययुक्त हो जाता है), तथा वह दोषरहित (रोगरहित) होकर चिरकाल तक जीवित रहता है। मेरु अर्थात् सुषुम्णा नाड़ी के मूल में जो कपाल-कुहर है, उसमें जल रहता है। विद्वान लोग इसी में आत्मतत्व का निवास मानते हैं और वहीं नीचे की ओर बहनेवाली इड़ा और पिंगला आदि नाड़ियों का मुख भी है। जब चन्द्रमा से उस जल का क्षरण होता है, तब वह नाड़ियों द्वारा अन्यत्र जाकर व्यर्थ हो जाता है। इस कारण मनुष्यों की मृत्यु होती है, अतः उस चन्द्रामृतस्वरूप जल को रोकने के लिये खेचरी-मुद्रा सिद्ध करनी चाहिए, नहीं तो (कायसिद्धि—) शरीर का पोषण नहीं हो सकता। जब योगी कपाल-कुहर के अमृत को नाभि में स्थित सूर्य-मुख में पड़ने से रोककर खेचरी-मुद्रा की सिद्धि कर उसे स्वयं पी लेता है तब वह मृत्यु को वश में कर लेता है।

बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः।
अजरामरतां याति यथा पञ्चमुखो हरः॥
(गोरक्षसंहिता २।४५)

जो योगी मूलद्वार को बाँध लेने में सफल हो जाता है, मूलबन्ध को सिद्धकर अपानवायु को ऊर्ध्वमुख—ऊपर खींचकर स्थिर करने में समर्थ हो जाता है, वह सभी विघ्नों का विनाश कर डालता है और पंचमुख शिव की तरह अजरत्व और अमरत्व की प्राप्ति हो जाती है। (उसे बुढ़ापा और मृत्यु का भय नहीं रहता है, वह पंचमुख शिव की तरह अजर-अमर हो जाता है।)

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखबन्धनम् (वञ्चनम्)।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः॥
(हठयोगप्रदीपिका ३।७८)

तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से अमृतस्राव नाभिस्थित सूर्य द्वारा ग्रास बना लिया जाता है। सूर्य का मुख-बन्धन करने के लिये अथवा सूर्य-मुख में उस अमृत को गिरने से बचाने के लिये दिव्य उपाय है, जो सद्गुरु के उपदेश से ही जाना जा सकता है, करोड़ों शास्त्रों के अर्थों के परिशीलन से भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता।

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया॥
(ह० प्र०।३।१२०)

(नाभिदेश के आकुंचन से उसमें स्थित सूर्य का आकुंचन होने पर शक्ति का चालन होता है, इस तरह कुण्डलिनी सुषुम्ना में प्रवेश कर ऊपर उठती है।) जिसने अरुन्धती शक्ति का संचालन कर लिया, शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास सिद्ध कर लिया, वह योगी सिद्धि-प्राप्ति का भागी हो जाता है। इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ? वह तो लीलापूर्वक खेल-ही-खेल में आसनी से काल को भी जीत लेता है।

ज्ञानं कुतो मनसि जीवति देवि यावत्।
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न तावत्।
प्राणो मनोद्वयमिदं विलयं प्रयाति।
मोक्षं स गच्छति नरो न कथञ्चिदन्यः॥
(हठयोगप्रदीपिका ४।१५)

देवि ! जब तक मन जीवित है अर्थात् मन का (आत्मचिन्तन में) लय नहीं हो जाता है, तब तक ज्ञान की प्राप्ति, स्वरूपबोध सम्भव नहीं है तथा जब तक शरीर के भीतर प्राणवायु जीवित—स्थित है, तब तक मन का विलय नहीं हो सकता, जिस समय प्राण और मन—इन दोनों का लय हो जाता है, उस समय वह साधकपुरुष मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, इसके अतिरिक्त दूसरा पुरुष किसी तरह भी मोक्षभागी (मुक्त) नहीं हो सकता।

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथश्च मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः।
(हठयोग प्रदीपिका ४। २९)

दसों कर्म और ज्ञान-इन्द्रियों का स्वामी मन है, क्योंकि मन की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ अपने कार्य में प्रवृत्त होती हैं। मन का स्वामी प्राणवायु है, क्योंकि प्राण का सहयोग न होने पर मन की प्रवृत्ति निष्फल होती है और प्राणवायु का स्वामी लय है और लय नाद के आश्रित है, नाद ही ब्रह्म है, इसलिये मन का नाद में लय ही मोक्ष है।

अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु (वेदशास्त्रेषु) गोपिता।
(ह० प्र० ४। ३६)

जिस मुद्रा में चित्तवृत्ति का लक्ष्य अन्तर की ओर होता है और दृष्टि बाहर की ओर रहती है अर्थात् नेत्र अधखुले रहकर भी बाह्य विषयों को ग्रहण नहीं करते तथा उनमें निमेष-उन्मेष अर्थात् खोलने और मीचने की क्रिया नहीं होती, वा शाम्भवीमुद्रा कही गयी है। यह वेद-शास्त्रों में अथवा समस्त तन्त्रशास्त्रों में गु रूप से सुरक्षित है।

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्ति मनसिमध्यतः (मानसमध्यगाम्)
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम्॥ (ह० प्र० ४। ५४

मन को कुण्डली-शक्ति के मध्य में लगा कर अथवा लीन कर और कुण्डली शक्ति को मन के मध्य में संस्थापित कर (तल्लीन कर) मन के द्वारा मन देखना चाहिए, इसके बाद परम पद की धारणा करनी चाहिए। (मन और शक्ति को एक कर मन पर दृष्टि रख कर परम पद का चिन्तन करना चाहिए।

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्ण-कुम्भ इवाम्भसि॥
(ह० प्र० ४।५६)

जिस तरह शून्य आकाश में रखा हुआ खाली घड़ा बाहर-भीतर चारों ओर शून्य ही रहता है, पर वही घड़ा जल में रखने से जब जल से पूर्ण हो जाता है, तब उसके बाहर –भीतर सर्वत्र जल- ही-जल व्याप्त हो जाता है, इसी तरह समाधि में स्थित योगी बाहर–भीतर, सर्वत्र ब्रह्म से परिपूर्ण होता है। (ब्रह्ममय होकर ब्रह्म-स्वरूप की प्राप्ति कर लेता है)।

संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्र
संकल्पमात्रकलना हि मनोविलासः!
संकल्पमात्रकलनैव कृतिस्तु नित्या
संकल्पनिश्चयमवाप्नुहि चात्मशान्तिम्॥
(ह० प्र० ४।५८)

समस्त–चराचर जगत् संकल्प का ही विकार मात्र है, मन का सारा विलास (व्यापार) भी संकल्प का ही विकार मात्र है, इसी तरह प्रतिदिन की कृति भी संकल्प का ही विकार मात्र है, इस तरह संकल्प के विषय में ऐसा निश्चय करके अथवा निर्विकल्प का आश्रय लेकर आत्मशान्ति लाभ करो।

ज्ञेयं सर्वमतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं मनश्चैव नान्यः पन्था द्वितीयकः॥
(ह० प्र० ४।६०)

मन को ही ज्ञेय, सम्पूर्ण अतीत ज्ञात और ज्ञान कहा जाता है, अतः ज्ञान और ज्ञेय का अस्तित्व तभी तक है, जब तक मनका अस्तित्व है। मन के अतिरिक्त तत्व–प्राप्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति।
नादानुसंधायकमेव नान्यं मन्यामहे धन्यतमं लयानाम्॥
(ह० प्र० ४।६६)

श्री आदिनाथ शिव ने चित्त को आत्मस्वरूप में लय करने की सवा करोड़ विधियाँ बतलायी हैं और वे सभी सिद्धिदायिनी हैं, पर उन लय–विधियों में हम

नादानुसन्धान को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, अन्य किसी को भी उससे श्रेष्ठ नहीं मानते ।

मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत् ।
बिन्दुस्थैर्योदयात्सत्यं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥
न्यासतः सुप्रसन्नात्मा निर्द्वन्द्वो विजितेन्द्रियः ।
कुरुते युक्तकर्माणि नित्यनैमित्तिकानि च ॥
योगेन पदमात्मानं गुहायां प्राप्यते च सा ।
तारकं जपते नित्यं जितासुः कामवर्जितः ॥

मन की स्थिरता होने पर प्राणवायु स्थिर हो जाती है, प्राणवायु के स्थिर होने पर बिन्दु की(वीर्य की)स्थिरता होती है और बिन्दु की स्थिरता का उदय होने पर (बिन्दु के स्थिर हो जाने पर) निश्चय ही पिण्ड की स्थिरता प्रकट हो जाती है– शरीर स्थिर हो जाता है ।

इस तरह न्यास के प्रभाव से जब साधक का आत्मा अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है, वह जितेन्द्रिय और द्वन्द्वरहित हो जाता है,तब वह नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मों को भी उपर्युक्त रीति से करने लगता है ।

जब योगाभ्यास द्वारा आत्मपद तथा हृदय– गुहा में स्थित शक्ति की प्राप्ति हो जाती है, तब वह प्राणजयी साधक कामनारहित होकर नित्य तारक ब्रह्म का(संसार सागर से पार करने वाले परमेश्वर का)जप करता है ।

युक्तासने समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी जपेदोंकारमक्षरम् ॥
भूर्भुवः स्वरिमे लोकाश्चन्द्रसूर्याग्निदेवताः ।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥
(गो० सं० १।८२-८३)

साधक को निर्जन स्थान में अकेले ही उपयुक्त आसन पर बैठकर शरीर, कण्ठ और सिर को एकसीध में करके अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर कर लेनी चाहिए और अविनाशी ऊँकार का जप करना चाहिए ।

चन्द्र, सूर्य और अग्नि देवता और भूःभुवः और स्वः –ये तीनों लोक जिसकी मात्राओं में निवास करते हैं, वह ओंकार ही परम ज्योतिस्वरूप है। ब्रह्मविद्योपनिषद् में उल्लेख है कि आकार में सूर्य,उकार में चन्द्रमा के मण्डल स्थित हैं तथा मकार में निर्धूम अग्नि है। इस तरह ऊँकार की तीनों मात्रायें सूर्य,चन्द्र और अग्नि स्वरूप हैं।

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुसंज्ञकः।
त्रिधा मात्रा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमीति ॥
(गो० सं० १।८६)

अकार, उकार, और बिन्दुसंज्ञक मकार–ये तीनों मत्रायें जिसमें स्थित हैं, वह ऊँकार परम ज्योतिस्वरूप हैं।

त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयो स्वराः।
त्रयो देवा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥
क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमीति॥
(गो० सं० १।८४-८५)

जिसमें भूत, भविष्य, वर्तमान, तीन काल, ऋग्, यजुः साम, तीन वेद, ब्रह्मा, विष्णु और महेश, तीन देवता, गार्हपत्य, दक्षिणा, आह्वनीय तीन अग्नि और तीन लोक स्वर्ग पाताल और मृत्यु – लोक और तीन स्वर उदात्त, अनुदात्त स्वरित स्थित है, वह ऊंकार परम ज्योतिस्वरूप है।

जिसमें इच्छा, क्रिया, और ज्ञान, ब्राह्मी, रौद्री, और वैष्णवी—ये तीन प्रकार की शक्तियाँ (जिनसे उत्पत्ति प्रलय, और स्थिति होती हैं) विद्यमान है वह ऊँकार परम ज्योतिस्वरूप है।

वचसा तज्जपेद् बीजं वपुषा तत्समभ्यसेत्।
मनसा तत्स्मरेन्नित्यं तत्पर ज्योतिरोमिति ॥
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
(गो० सं० १। ८७-८८)

वाणी से प्रणव—ॐ का जप करना चाहिए, शरीर से (आसन, प्राणायाम, मुद्राबन्ध आदि का अभ्यास करते हुए) उसके चिन्तन में तत्पर रहना चाहिए तथा मन से उसका नित्य स्मरण करना चाहिए, यह ॐकार ही परम ज्योतिस्वरूप है।

चाहे (साधक) बाह्य शौच (शरीर की निर्मलता आदि) से युक्त हो चाहे वह अशौच-अपवित्र स्थिति में हो, उसे प्रणव का सदा जप करते रहना चाहिए, इससे वह उसी तरह पापकर्म से लिप्त नहीं होता, जिस तरह कमलपत्र पानी में रह कर भी उससे लिप्त नहीं होता।

शरीरं नो त्यजेदेव कालः कस्यापि कुत्रचित्।
अन्तःशरीररक्षार्थं यत्नः कार्यस्तु योगिना॥

काल किसी के भी बाह्य (पांचभौतिक स्थूल) शरीर को किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ता, अतः योगी को अपने अन्तः शरीर की रक्षा के लिये प्रयत्न करना चाहिए।

ततो लक्ष्यमनोऽभ्यासमहंभावविवर्जितम्।
सर्वांगकल्पनाहीनं कथं कालो जयेत् तम्॥

इसलिये अहंभाव से रहित एवं सम्पूर्ण कल्पनाओं (तर्क-वितर्क-सशबादि) से विमुक्त (रहित) होकर मन को वश में करने का अभ्यास करना चाहिए, मन को वश में करना ही लक्ष्य है, उस साधक को काल अपने वश में नहीं कर सकता है, वह अमर हो जाता है।

स एव कालः स शिवः स सर्वो नापि किञ्चन।
कः केन हन्यते तत्र म्रियते वापि कश्चन॥

वास्तव में वह परब्रह्म ही काल है, वही शिव है और वही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, ऐसी दशा में कौन किसको मारता है और कौन मरता है ? यह सब भ्रमात्मक माया का प्रपंच मात्र है।

ततो व्यतीते समये कालस्य भ्रान्तिरूपितम्।
योगी सुप्तोत्थित इव बोधं याति निबोधतः॥

इसके बाद जब काल का भ्रान्तिरूप निर्धारित समय (आयु) व्यतीत हो जाता है, तब योगी सोकर जगे हुए के समान फिर चैतन्यावस्था को प्राप्त हो जाता है।

एवं सिद्धो भवेद्योगी वञ्चयित्वा विधानतः।
कालं कलितसंसारं पौरुषेणाद्भुतेन च।।

इस तरह योगी अपने अद्भुत पुरुषार्थ के द्वारा संसारग्राही काल का विधान-पूर्वक युक्ति से वञ्चन कर सिद्ध हो जाता है।(वह अपने आप को मृत्युपाश से छुड़ा कर जीवन्मुक्त हो जाता है।)

तत्रापि भवने योगी विहरत्येक एव सः।
पश्यन्संसारवैचित्र्यं स्वेच्छया निरहंकृतिः।।

वह अहंकाररहित योगी उस अवस्था में भी अपने इच्छानुसार संसार की विचित्रता को देखता हुआ अकेले ही विहार करता है।

द्वाराणां नवकं निरुद्ध्य मरुतं पीत्वा दृढं धारितं।
नीत्वाऽऽकाशमपानवह्निसहितं शक्त्या समुच्चालितम्।।
आत्मध्यान (आत्मस्थान) युतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि ध्रुवं।
यावत्तिष्ठति तावदेव मरुतां (महतां) संघेन संस्तूयते।।
(वि० मा० ११२)

शरीर के नवों द्वारों को निरुद्ध करके प्राणवायु को पीकर कुम्भक द्वारा दृढ़तापूर्वक धारण कर, पुनः कुण्डली-शक्ति द्वारा उद्घाटित अपान वायु और जठराग्निसहित प्राणवायु को आकाश में ले जाकर ब्रह्मरन्ध्र में संस्थापित कर जब योगी आत्मज्ञान में अथवा आत्मस्वरूप में स्थिर होकर बैठता है, तब वह निश्चय ही देवसमुदाय अथवा सिद्धसमुदाय द्वारा स्तुत्य हो जाता है।

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनापि दृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं (मनः) स्थिरं यस्य विनावलम्बं स एव योगी स गुरुः स सेव्यः।।
(वि० मा० २४)

जिसकी दृष्टि दृश्य के बिना भी स्थिर हो जाय, जिसकी प्राणवायु प्राणायामादि प्रयत्न के बिना भी स्थिर हो जाय और जिसका चित्त अवलम्बन के न होने पर भी स्थिर हो जाय, वही योगी है, वही गुरु होने योग्य है और वही सेव्य है।

श्रीगोरक्षपर्यन्त नाथ-परम्परा-वर्णन

गोरक्षोपनिषद् में—

> आदौ देवो महानन्दान्निर्ममे देवता स्वयम्।
> तस्मादिच्छा सुसम्पन्ना इच्छा ज्ञानं ततः क्रिया ॥
> ततो व्यधां वरारोहे पिण्डब्रह्माण्डबुद्बुदम्।
> अव्यक्ताव्यक्तभावेन विचरामि जगत्त्रये ॥

सबसे पहले भगवान् शिव महानन्द से स्वयं देवतास्वरूप अभिव्यक्त हुए, उनसे (निजा शक्ति) इच्छा की उत्पत्ति हुई, फिर क्रमशः इच्छा से ज्ञान और ज्ञान से क्रिया की उत्पत्ति हुई। हे देवि! उसके बाद क्रिया से बुद्बुदस्वरूप पिण्ड और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। इस तरह मैं व्यक्त और अव्यक्त भाव से तीनों लोकों में विचारण करता हूँ।

एवं श्रीगुरुरादिनाथः, मत्स्येन्द्रनाथः, तत्पुत्र उदयनाथः दण्डनाथः सत्यनाथः, संतोषनाथः, कूर्मनाथः, भवनार्जिः तस्य श्रीगोरक्षनाथः ईश्वर संतान आदिर्ब्राह्मणः सूक्ष्मवेदी, अद्वैतोपरि सदानन्द देवता अनाहतशृङ्गी खेचरीमुद्रा।

इस तरह सबसे पहले गुरु आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, उनके पुत्र उदयनाथ दण्डनाथ, सत्यनाथ, संतोषनाथ, कूर्मनाथ. भवनार्जि और उनके श्रीगोरक्षनाथ हुए। ये ईश्वर- सन्तान. शिवावतार, ब्राह्मण, सूक्ष्मवेदी, अद्वैत से भी परे, अलख-निरञ्जन सदानन्द देवता, अनाहतशृंगी और खेचरीमुद्रा रूप थे।

विवेकमार्तण्ड में-

> अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिकास्वाधार (वेध) बन्धादिभि-
> र्यो योगी युगकल्पकालकलनातत्वं च जेगीयते।

ज्ञानामोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथः स्वयं
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे । (२)

जिन्होंने मूलाधारबन्ध, उड्डियानबन्ध, जालन्धरबन्ध आदि योगाभ्यास से हृदयकमलमें निश्चलदीप की ज्योति सरीखी परमात्मा की कला का साक्षात्कार करके युगकल्प आदि के रूप में चक्कर काटने वाले काल के रहस्यों को तथा समस्त तत्वों को (योगाभ्यास से) जय (अपने वश में) कर लिया था और स्वयं ज्ञान और आनन्द के महासमुद्र श्रीआदिनाथ के स्वरूप हो गये थे, उन श्रीमीन नाथ (श्री मत्स्येन्द्रनाथ) को प्रणाम है।

अजपाजप की महिमा

अजपानाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं तीर्थमनया सदृशः क्रतुः ।।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।
अनया सदृशं स्वर्गमनया सदृशं तपः ।।
अनया सदृशं वेद्यं न भूतं न भविष्यति ।।
(४७-५०)

अजपा नामवाली गायत्री (जिसके हंस-मंत्र-सोऽहं सोऽहं का स्वतः जप होता रहता है) योगियों को मोक्ष(स्वरूपस्थिति)प्रदान करने वाली है। इस गायत्री के संकल्प मात्र से मनुष्य सम्पूर्ण पापों से छूट जाता है। इस अजपा गायत्री के समान न तो कोई विद्या है, न इसके समान दूसरा जप है और इसकी समता करने वाला भूत-भविष्य का कोई ज्ञान ही नहीं है। इसके समान न तो कोई तीर्थ है, इसकी समता का न यज्ञ है और इसके समान न दूसरा पुण्य है, न होगा, इसके सदृश कोई स्वर्गीय वस्तु भी नहीं है, इसके समान न कोई तप है, इसके समान न कोई दूसरा ज्ञेय तत्त्व है, न होगा।

एतत्कालभयाद् ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयः सर्वे ततो वायुं नियन्त्रयेत्(निरोधयेत्)।९६।

इस काल के भय से ब्रह्मा, योगी, मुनि, आदि सभी लोग प्राणायाम की साधना में तत्पर रहते हैं, इसलिए प्राणवायु का निरोध(संयमन) करना चाहिए ।

यत्सर्वं द्वन्द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिः सोऽभिधायते ।। १८६।।

जीवात्मा और परमात्मारूप द्वन्द्वों का जो सम्पूर्ण समत्व है, उसे जानकर समस्त संकल्पों का नष्ट कर देना ही समाधि है ।

अवेद्यः सर्वशास्त्राणामभेद्यः सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना ।।१९२।।

जो योगी समाधि से युक्त है, समाधि में स्वस्थ अथवा स्थित है, वह सभी शास्त्रों द्वारा अवेद्य, सम्पूर्ण प्राणियों द्वारा अभेद्य और समस्त मन्त्र-यन्त्रों के लिये आग्राह्य पकड़ के बाहर) हो जाता है ।

हेतुदृष्टान्तनिर्मुक्तं मनोबुद्धयाद्यगोचरम् ।
व्योमविज्ञानमानन्दं तत्त्वं तत्वविदो विदुः ।। १९५ ।।

जो तत्व कारण और दृष्टान्त से रहित, मन, बुद्धि, आदि के अगोचर चिदाकाशरूप, विज्ञानमय एवं आनन्दस्वरूप है, उसको तत्ववेत्तागण जानते हैं ।

यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि जायते ।
क्षीरे क्षीरं तथा योगी तत्वमेव हि जायते ।।१९७।।

जिस तरह घी में डाला गया (मिलाया गया) घी घी ही होता है, तथा दूध में डाला गया दूध दूध ही होता है, उसी तरह तत्व का ज्ञाता योगी (आत्म) तत्वरूप ही हो जाता है ।

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ ७४ ॥

जब तक बिन्दु (वीर्य) शरीर में स्थित रहता है, तब तक मृत्यु का भय नहीं रहता तथा जब तक नभोमुद्रा (खेचरी, दृढ़ बँधी (सिद्ध) है, तब तक बिन्दु से स्पन्दन नहीं होता-वीर्य अधोगामी(स्खलित) होकर शरीर के बाहर नहीं जा सकता ।

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दु रिन्दू रजो रविः ।
उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ७८ ॥

बिन्दु शिव है, रज शक्ति है तथा बिन्दु चन्द्रमा है, और रज सूर्य है, इन दोनों के संयम से ही साधक को परम पद की प्राप्ति होती है ।

महाभूत-धारणा

या पृथ्वी हरितालहेमरुचिरा तत्वं लकारान्वितं
(पीता लकारान्विता) ।
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदिस्थायिनी ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद् भुवो धारणा ।१५८

जो पृथ्वी हरिताल (पीले रंग) और स्वर्ण के समान (रुचिरवर्णवाली) चमकीली है, जिसका अधिष्ठातृ देवता ब्रह्मा है, जो चार कोणों वाली पीठ है और हृदय में स्थित रहने वाली है, यह 'ल' कारबीजयुक्त पृथ्वीतत्व है । इस पृथ्वीतत्व में चित्तसहित प्राणवायु को विलीन करके पाँच घड़ी तक भूमण्डल में लीन करना चाहिए। स्तम्भन करने वाली इस पृथ्वी-धारणा से सदा पृथ्वी-तत्व पर विजय प्राप्त हो जाती है ।

अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेऽम्बुतत्वं स्थितं
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये

देषा दुःहसकालकूटजरणा (जरणी-दहनी)स्याद्वारुणी धारणा ।
(१५९)

कंठदेश में जो अर्ध चन्द्र के समान, कुन्द-पुष्प सरीखा उज्ज्वल, अमृतमय 'वकार' बीजसहित और सदा विष्णु से युक्त जल-तत्व स्थित है, उस जलतत्व में स्थित चित्तसहित प्राणवायु को विलीन करके पाँच घड़ी तक उसकी धारणा करनी चाहिए, यह वारुणी धारणा कहलाती है, इसके अभ्यास की सिद्धि से दुःसह कालकूट विष भी भस्म हो जाता है अथवा पच जाता है—निर्विष हो जाता है।

यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं(त्रिकोणानलं)त्रिकोणंज्वलत्
तेजो रेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेण (सत्) यत्संगतम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटकं चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निजयं सदा विदधती वैश्वानरी धारणा ॥१६०॥

जो अग्नितत्व तालु स्थान में स्थित है, जिसका वर्ण इन्द्र-गोप (बीरबहूटी) के समान लाल है, जो प्रवाल-तुल्य सुन्दर है, जिसका अधिष्ठातृ देवता रुद्र है, जो तेजस्वरूप रकार बीज से युक्त है, जो त्रिकोणाकार (तिकोना) है, उसमें (अग्नि तत्व में) चित्तसहित प्राणवायु को विलीन करके पाँच घड़ी तक उसके ध्यान में तत्पर रहना चाहिए, यह वैश्वानरी अग्नि-धारणा है, जो सदा अग्नि-तत्व पर विजय प्रदान करती है; (इस धारणा का अभ्यासी अग्नितत्व को अपने वश में कर लेता है)।

यद्‌भिन्नाञ्जनसन्निभमिदं (स्यूतं) वृत्तं भ्रुवोरन्तरे
तत्वं वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता ॥
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा खेगमनं करोति (यमिनः) यमिनां (वै) स्याद्वायवी
धारणा ॥१६१॥

भौंहों के मध्य भाग में जो भिन्नांजन पुंज—सिद्ध अंजन (सुरमे) के समान रंगवाला है, जिसका यकारबीज है, वृत्ताकार वायुमय तत्व है, जिसका देवता

ईश्वर है, उस वायु तत्व में चित्त सहित प्राणवायु की विलीन करके पांच घड़ी तक (भौंहों के मध्य में) धारणा करनी चाहिए। यह वायु की धारणा होती है। अभ्यास करनेवालों को यह धारणा आकाश में उड़ने-विचरण करने की शक्ति प्रदान करती है।

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं
यन्नाथेन (नादेन) सदाशिवेन सहितं शान्तं हकाराक्षरं।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥१६२॥

जो आकाश-तत्त्व निर्मल जल के समान शुभ्र वर्ण का है, जो ब्रह्मरन्ध्र में स्थित नाद से युक्त है, जिसका बीज 'हकार' है, जिसका अधिष्ठातृ देवता सदाशिव है, उस (आकाशतत्व) में चित्तसहित प्राण को विलीन कर पांच घड़ी तक उसकी धारणा करनी चाहिए, उसका ध्यान करना चाहिए। यह नभो धारणा है, यह मोक्ष के दरवाजे को खोल देती है, इसकी सिद्धि से मुक्ति प्राप्त होती है।

स्नातं तेन (समस्त) सहस्रतीर्थसलिले दत्तं द्विजेभ्यो धनं
(महीमण्डलं)।
यज्ञानां च हुतं (कृतं) सहस्रमयुतं देवाश्च सम्पूजिताः ॥
सत्यं तेन(स्वाद्वन्नेन)सुतर्पिताश्च पितरः स्वर्गं च नीताः पुन-
र्यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्नोति धैर्यं
मनः ॥२०३॥

उस मनुष्य ने समस्त तीर्थों के जल में स्नान करने का फल प्राप्त कर लिया, ब्राह्मणों को (स्वेच्छा से) दान में भूमि (सम्पत्ति) देने का फल प्राप्त कर लिया, हजारों-हजारों यज्ञ में आहुति देने का अनुष्ठान कर लिया, विधिपूर्वक सभी देवताओं की पूजा कर ली, स्वादिष्ट अन्न से पितरों को तृप्त कर उन्हें फिर से स्वर्ग में प्रतिष्ठित कर देने का फल प्राप्त कर लिया, जिसके मन ने क्षण भर के लिये ब्रह्मचिन्तन में धैर्य प्राप्त कर लिया--जिसका मन ब्रह्मचिन्तन में क्षणमात्र स्थिर हो गया।

'गोरक्ष' शब्द की निरुक्ति और स्तवन

राजगुह्य में श्रीकृष्णकृत गोरक्षनाथस्तोत्र में--

गकारो गुणसंयुक्तो रकारो रूपलक्षणः
क्षकारेणाक्षयं ब्रह्म श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ।।

श्रीगोरक्ष, हे गोरखनाथजी ! आप के नाम में गकार गुण संयुक्त, रकार रूप का उपलक्षण तथा क्षकार अविनाशी ब्रह्मरूप है। आप को नमस्कार है।

ब्रह्मणां च परं ब्रह्म रुद्रादीनां शिरोमणिः।
त्रैलोक्यं निर्मितं येन श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ।।

श्रीगोरक्ष (हे गोरखनाथजी)! जो अनेकों ब्रह्माओं के भी परब्रह्म और रुद्रादिकों के (शिवगोरक्षस्वरूप) शिरोमणि हैं तथा जिन्होंने तीनों लोकों का निर्माण-सृजन किया है, उन आप को प्रणाम है।

सर्वंगुणो गुणाभावो निर्गुणश्च गुणस्थितः।
साकारो वा निराकारः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तुते ।।

श्रीगोरक्ष (हे गोरखनाथजी)! आप समस्त गुणों के आश्रय अथवा गुण-रहित गुणातीत और निर्गुण अथवा सगुण तथा साकार अथवा निराकार सब कुछ हैं, आप को नमस्कार है।

स्वः पूजयन्ति देवास्त्वं मर्त्यलोके च मानवाः।
पाताले नागलोकश्च श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ।।

श्रीगोरक्ष (हे गोरखनाथजी) ! स्वर्गलोक में देवता, मृत्युलोक में मनुष्य और पाताल-लोक में नाग गण आपकी पूजा करते हैं, उन आप को नमस्कार है।

एकाकी वर्तते नित्यं भवपाशविवर्जितः।
परं ब्रह्माक्षयं ज्योतिः श्रीगोरक्षनमोऽस्तु ते ।।

श्रीगोरक्ष(हे गोरखनाथजी) ! आप सांसारिक द्वन्द्वों के बन्धन से नितान्त

मुक्त होकर नित्य परमात्म स्वरूप में निवास करते हैं तथा अक्षय ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म हैं, आपको प्रणाम है।

श्रीगोरक्षस्येदं स्तोत्रं स्वयं कृष्णेन निर्मितम्।
भक्तिभावविनिर्मुक्तो दासोऽहमिति भावयेत्॥

श्रीगोरक्ष (नाथ के सम्बन्ध) का यह स्तोत्र श्रीकृष्ण द्वारा रचित है। साधक को भक्तिभाव से विनिर्मुक्त होकर केवल 'मैं दास हूँ'-ऐसी भावना करनी चाहिए।

आकाशं मन्दिरं यस्य तारारत्नोपशोभितम्।
हस्तमध्ये स्थितः शम्भोरभयं वरदायकम्॥

तारारूप रत्नों से सुशोभित आकाश मन्दिर है, उसमें श्री गोरक्षनाथजी हाथों में शम्भु के अभय एवं वरद मुद्रा को धारण किये हुए विराजमान रहते हैं।

नमन्ति ब्रह्मा विष्णुश्च सुरा नृमुनयस्तथा।
ज्ञानसाराखिला सिद्धाः श्रीगोरक्षनमोऽस्तु ते॥

श्रीगोरक्ष (हे गोरखनाथजी)! आपको ब्रह्मा, विष्णु, देवगण, मनुष्य-समुदाय मुनिसमूह, ज्ञानियों का दल, सभी सिद्धगण नमन करते हैं, आप को नमस्कार है।

श्रीनाथं तु महात्मानं न जानाति स्वयं हरिः।
किञ्चित्किञ्चिद्विजानाति महादेवो नमस्कृतम्॥

सभी के द्वारा नमस्कृत्य महात्मा योगेश्वर श्रीनाथ के तत्व को तो स्वयं साक्षात् श्रीहरि भी नहीं जान पाते, महादेव (शिव) ही थोड़ा-बहुत जानते हैं।

श्रीनाथश्चाक्षयो देवो देवानामप्यगोचरः।
तत्पादौ चिन्तयेद्योगी अक्षयो योगनिश्चलः॥

श्रीनाथ देवताओं के लिए भी अगोचर अविनाशी देवता हैं, योगस्थ आत्म-स्वरूपस्थयोगी ही उनके चरणों का ध्यान करता है।

कल्पद्रुमतंत्र के अन्तर्गत श्रीगोरक्षकवच में:-

योगीश्वरं चादिनाथं सर्वव्याप्यं महेश्वरम् ॥

योगीश्वर, सर्वव्यापी, महेश्वरस्वरूप आदिनाथ का ध्यान करना चाहिए।

गोरक्षमंत्र के बिना सिद्धि नहीं होती

कल्पद्रुमतंत्रमें श्रीगोरक्षसहस्रनामस्तोत्र में—

शुद्धस्फटिकसंकाशं जटाजूट त्रिलोचनम्।
निरञ्जनं निराकारं निर्विकल्पं निरामयम् ॥
त्रिमूर्ति च त्रिलोकीशं विधिविष्णुमहेश्वरम्।
विश्वरूपं सदाकारं गोरक्षं नाथदेवतम् ॥

निर्मल स्फटिक के समान उज्ज्वल जिनका गौर वर्ण है, जो जटाजूटधारी हैं, जो तीन नेत्र वाले, मायारहित, निराकार, निर्विकल्प, (समाधि में स्थित) और विशुद्ध (आत्मस्वरूप) तथा ब्रह्मा, विष्णु, और महेश त्रिदेवस्वरूप और तीनों लोकों के स्वामी हैं, विश्व जिनका रूप है, जिनका सत्स्वरूप है और श्रीनाथ ही जिनके इष्टदेव हैं, उन श्रीगोरक्ष (गोरखनाथजी) को नमस्कार है।

विद्यापतिर्मंन्त्रनाथो ध्याननाथो निरञ्जन:।
नित्यनाथो भूतपतिर्नित्यानन्दो महीपति:॥
सर्वाराध्य: पूर्णनाथो द्युतिनाथो द्युतिप्रियो।
सृष्टिनाथ: स्थितिनाथो हारनाथो महागुरु:॥
रमणो रामभद्रश्च रामनाथो जनार्दन:।

गोरक्षनाथ, विद्यापति, मन्त्रनाथ मन्त्रों के अधिकृत अधिकारी, ध्यान में एक मात्र ध्येय निरंजन, नित्यनाथ, प्राणीमात्र के स्वामी, नित्यानन्द में निमग्न रहने वाले, महीपति, जगदीश्वर, सबके आराध्यदेव पूर्णनाथ, तेज:स्वरूप, ज्योति:स्वरूप, ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूप से सृष्टि–स्थिति-संहार के कर्ता महान् गुरु, भक्तों की आत्मा में रमण करने वाले रामभद्रस्वरूप रामनाथ और जनार्दनरूप हैं।

घटस्थापनकार्याणि मुक्तिकार्यं विशेषत:।
बिना गोरक्षमन्त्रेण न कर्तव्यं कदाचन॥

आगमोक्तानि कर्माणि वदिकानि तथैव च।
विना गोरक्षमन्त्रेण न सिद्धयन्ति कदाचन ॥

देवपूजा के आरम्भ में कलश-स्थापन आदिकार्य और विशेषरूप से मुक्ति सम्बन्धी कार्य गोरक्षमंत्र-प्रयोग के बिना कभी भी नहीं करना चाहिए। आगमशास्त्र में विहित तथा वैदिक कर्म भी गोरक्षमंत्र के अनुष्ठान के बिना कभी नहीं सिद्ध होते।

चारयुगनाथ और चार प्रकार की मुक्ति

सारसंग्रह में ब्रह्माण्डपुराणके ललितापुरवर्णन वाले ललिताखण्ड में-

तस्य चोत्तरकोणे तु वायुलोकोमहाद्युतिः।
तत्र वायुशरीराश्च सदादानमहोदयाः॥
सिद्धदिव्यर्षयश्चैव पवनाभ्यासिनोऽपरे।
गोरक्षप्रमुखाश्चान्ये योगिनो योगतत्पराः॥

उस ललितापुर के उत्तरकोण में अत्यन्त प्रकाशमय वायुलोक है। उस लोक में वायु शरीरधारी, सदा दान देने में महान् उत्साही, सिद्धसमूह, दिव्य ऋषिगण और प्राणायाम के अभ्यासी दूसरे योगी तथा योगपरायण योगमहाज्ञान-चिन्तन में तत्पर श्रीगोरक्ष (गोरखनाथजी) आदि अनेकानेक दूसरे-दूसरे योगियों के समुदाय निवास करते हैं।

द्वात्रिंशत्तम अध्याय में:—

नायान्तरमितिप्रोक्तं हस्तविंशति चोन्नतम्।
चतुर्नल्वप्रविस्वारं प्राग्वत्सोपानमण्डितम्॥
तत्र नाथामहादिव्या योगशास्त्रप्रवर्तकाः।
सर्वेषां मन्त्रगुरवः सर्वविद्या महातपाः॥
चत्वारो योगनाथास्तु लोकानामिह गुप्तये।
सृष्टाः कामेशदेवेन तेषां नामानि मे श्रृणु॥
मित्रीशोड्डीशषष्ठीशचर्याख्याः कुम्भसम्भवाः।
तैः सृष्टा बहवो लोका रक्षार्थं मे पादुकात्मकाः॥
——— ———दिव्यौघास्तेषां नामानि मे श्रृणु।
मित्राद्या मानवौघाश्च सिद्धौघाः सुरतापसाः॥
प्रायः सालोक्यसारूप्यसायुज्यादिकसिद्धयः।

महान्तो गुरवस्तांस्तु सेवन्ते चतुरो गुरून् ।।
(उ०मा०उप०पा०३७.३६-४१)

वहाँ नाथों का निवासस्थान इस प्रकार कहा गया है कि वह बीस हाथ ऊँचा और चारनल्व-१६ सौ हाथ का विस्तारवाला है तथा पहले की ही तरह वर्णित सीढ़ियों से सुशोभित है (नल्व का अर्थ है जमीन नापने का चार सौ हाथ का एक माप) उस स्थान पर परमदिव्य योग-शास्त्र के प्रवर्तक सभी को मन्त्र देने वाले गुरु, समस्त विद्याओं में निष्णात, योगमार्ग के आचार्य-चारों नाथ निवास करते हैं, जिन्हें कामेश्वर भगवान् शिव ने लोकों की रक्षा के लिये संतुष्ट अथवा प्रसन्न होकर नियुक्त किया है। उनके नाम मुझसे सुनो, वे मित्रीश, उड्डीश, षष्ठीश और चर्या हैं, ये चारों घड़े से उत्पन्न हैं। इन्होंने बहुत-से पादुकात्मक लोकों की रचना की है और उनकी रक्षा के लिये दिव्य समुदाय की भी कल्पना की है। उनके नाम मुझसे सुनो—मित्रीश आदि मानव समुदाय और देवर्षि सिद्ध-समुदाय हैं, प्रायः सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य आदि सिद्धियाँ तथा महान् गुरु आदि इन चारों (नाथ—) गुरुओं की सेवा करते हैं।

शिव-द्रोहियों की दुर्गति

स्कन्दपुराणकाशीखण्ड में :—

मम भक्तिं प्रकुर्वाणा ये विश्वेशं द्विषन्ति वै।
विद्विषो मम ते ज्ञेयाः पिशाचपदगामिनः।।
अध्यासतेऽन्धतामिस्रं मृतास्तेऽन्यत्र संततम्।
शिवनिन्दापरा ये च ये पाशुपतनिन्दकाः।।
विद्विषो मम ते ज्ञेयाः पतन्ति नरकेऽशुचौ।
अष्टाविंशतिकोटीषु नरकेषु क्रमेण हि।।
कल्पं कल्पं वसेयुस्ते ये विश्वेश्वरनिन्दकाः।
विश्वेशानुग्रहं प्राप्य मुनेऽहमपि मुक्तिदः।।
मद्भक्तैस्तद्विशेषेण सेव्यो विश्वेश्वरोऽनिशम्।
इयं वाराणसी ज्ञेया पाशुपातरथस्थली।।

मेरी भक्ति करनेवाले जो लोग विश्वेश से द्वेष करते हैं, उन्हें मेरा शत्रु समझना चाहिए। वे पिशाचपद के भागी होते हैं (पिशाचयोनि में पतित होते हैं) और मरने पर वे अन्धतामिस्र तथा उसी के समान दूसरे नरकों में निरन्तर

वास करते हैं। जो शिव की निन्दा में तत्पर रहनेवाले हैं तथा जो पाशुपत के निन्दक हैं, उन्हें शत्रु ही जानना चाहिए। वे अपवित्र नरक में गिरते हैं। जो विश्वेश्वर की निन्दा में लगे रहते हैं, वे अट्ठाइस करोड़ नरकों में क्रमशः एक-एक कल्प तक निवास करते हैं। हे मुनि! विश्वेश का अनुग्रह प्राप्त करके ही मैं मुक्ति प्रदान करता रहता हूँ। इसलिये मेरे भक्तों को विशेष रूप से निरन्तर रात-दिन विश्वेश्वर की सेवा-आराधना करनी चाहिए। इस वाराणसी को पाशुपतरयस्थली जानना चाहिए।

रक्तनेत्रं हीनच्छाया रक्तं गात्रं तपस्विनः।
मूर्तिः प्रसन्नवदना स्वल्पवाणी च कथ्यते॥
चतुरशीतिसिद्धानां पूर्वादीनां दिशां न्यसेत्।
एकविंशतिसंख्याकं स्थानं नाम्नां च कथ्यते॥
नवनाथा दिशो ह्यष्टावेको मध्ये व्यवस्थितः।
नवनाथस्थितिश्चैव सिद्धयागमेन कारयेत्।
गोरक्षनाथो वसेत्पूर्वे जगन्नाथवने स्थितः॥
कोशत्रये वसेन्नित्यमेको नाथः स उच्यते॥
जालन्धरो वसेन्नित्यमुत्तरापथमाश्रितः।
ज्वालामुखोपञ्चक्रोशवनमुत्तरमाश्रितः॥
नागार्जुनो महानाथो ज्वालायेशानसंश्रितः।
सप्तक्रोशे वने चैव तपस्यति महातपः॥
सहस्रार्जुनो दक्षिणे च गोदावरीवने स्थितः।
दशक्रोशप्रमाणेन तपस्यति महातपः॥
दत्तात्रेयो महानाथः पश्चिमायां वसेद्दिशि।
सरस्वतीपश्चिमे च नवक्रोशं समाश्रितः॥
देवदत्तो वसेन्नित्यमग्निकोणं समाश्रितः।
पञ्चक्रोशंसमाने तु वायव्यां भरथोजड़ः॥
सप्तक्रोशप्रमाणेन आदिनाथो वसेद्भुवि।
कुरुक्षेत्रे मध्यदेशे क्रोशत्रयवने स्थितः॥
नैऋते तु दिशां भागे मत्स्येन्द्रस्तथैव वारिधेः।
नाथस्थानानि वक्ष्यामि महागोप्यं न कथ्यते॥

जिसके नेत्र रक्तवर्ण, शरीर छायाहीन, रंग लाल हो, जिसकी आकृति प्रसन्न-मुखवाली हो और जो मितभाषी हो (कम बोलता हो), उसे तपस्वी कहा जाता

है। चौरासी सिद्धों का पूर्वादि दिशाओं में न्यास करना चाहिए। उन नामों के इकीस स्थान कहे गये हैं। नाथों की संख्या नौ और दिशायें आठ हैं, अतः एक नाथ मध्य में स्थित रहते हैं। इन नवनाथों की स्थिति सिद्धयागम के अनुसार स्थिर करनी चाहिए। गोरक्षनाथ पूर्व दिशा में निवास करते हैं, वे जगन्नाथ वनमें स्थित हैं, वे तीन कोस की दूरी पर नित्य निवास करते हैं, इसलिये प्रमुख नाथ कहे जाते हैं। जालन्धर नित्य उत्तर दिशा का आश्रय लेकर निवास करते हैं, उनका स्थान ज्वालामुखी से पाँच कोश उत्तरवनमें स्थित हैं (महानाथ नागार्जुन ज्वालामुखी से ईशानकोण (पूर्व-उत्तर के बीच के कोने) पर स्थित है। वे सात कोस की दूरी पर वन में घोर तपस्या कर रहे हैं। सहस्रार्जुन दक्षिण दिशा में गोदावरी नदी के तटपर एक वन में निवास करते हैं, वे दस कोश की दूरी पर कठोर तप कर रहे हैं। महानाथ दत्तात्रेय पश्चिम दिशा में निवास करते हैं। उनका स्थान सरस्वती से पश्चिम नौ कोस की दूरी पर है। देवदत्त नित्य अग्निकोण (पूर्व-दक्षिण के कोने) का आश्रय लेकर निवास करते हैं, उनसे पाँच कोस की समान दूरी पर वायव्यकोण (पश्चिम-उत्तर दिशा) में जड़भरत निवास करते है। उस स्थान से सात कोस की दूरी पर आदिनाथ मूनल पर निवास करते हैं। उनका स्थान कुरुक्षेत्र के मध्य में तीन कोश की दूरी पर वनमें स्थित है। दिशाओं में नैऋ त्यकोण (दक्षिण-पश्चिम के मध्य की दिशा) में समुद्र तट पर मत्स्येन्द्रनाथ का वास-स्थान है। मैंने जो इन नाथ-स्थानों का वर्णन किया है, ये अत्यन्त गोपनीय हैं। इन्हें सबसे नहीं कहना चाहिए (जो योग में अधिकारी पुरुष हैं, उन्हीं से इनका वर्णन करना उचित है)।

षोडशनित्यातंत्र में-

कादिसंज्ञा भवेद्रूपा सा शक्तिः सर्वसिद्धये।
तन्त्रं मदुक्तं भुवने नवनाथैरकल्पयत् ॥
तया तैर्भुवने तन्त्रं कल्पे कल्पे विजृम्भते।
अवसाने तु कल्पानां सा तैः सार्द्धं व्रजेच्च माम् ॥
नामपर्यायतोऽवाप्तं कालावाप्तमितिद्वयम्।
प्रसिद्धं बाह्यतो यच्च त्रीणि नामानि साधके ॥
नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे।
विद्यावतारसंसिद्धयै स्वीकृतानेकविग्रह ॥
नवाय नवरूपाय परमार्थैकरूपिणे।
सर्वाज्ञानतमोभेदभानवे चिद्धनाय ते।
स्वतन्त्राय दयाशक्तिविग्रहाय एसात्मने।

परतन्त्राय शक्तानां भव्याय भव्यरूपिणे ॥

जिसकी पारिभाषिक संज्ञा कादि है, वह शक्ति सभी साधकों को सिद्धि प्रदान करने के लिए रूप धारण करती है और मेरे द्वारा कहे हुए तन्त्र को भुवन में नवनाथों के सहयोग से विस्तृत करती है। इस तरह प्रत्येक कल्प में वह नवनाथों को साथ लेकर भुवन में तन्त्र का विस्तार करती है और कल्पों की समाप्ति होने पर वह उन नाथों के साथ मेरे पास लौट आती है। ये दोनों कालक्रमानुसार नाम के पर्याय से भुवन में व्याप्त होकर बाह्य रूप से प्रसिद्ध होते हैं, तथा साधक में ये तीनों नाम से प्रसिद्ध रहते हैं। हे नाथ ! आप गुरुरूपधारी शिव हैं, आपने विद्यावतार की सिद्धि के हेतु अनेकों शरीर धारण किया है, आप नित्य नवीन रहते हैं, नौ नाथ आपके ही रूप हैं, ।एकमात्र परमार्थ ही आपका स्वरूप है, आप सम्पूर्ण अज्ञानान्धकार का भेदन करने के लिए सूर्य, ब्रह्मस्वरूप और स्वतन्त्र हैं, दयाशक्ति आप का विग्रह है ? आप अपने भक्तों पर दया करते रहते हैं अथवा आप मूर्तिमती दया हैं। आप रस-स्वरूप, परमसुन्दर भव्यरूपवाले और भक्तों को अपने अधीन रखते हैं अथवा शाक्तों (शक्ति की उपासना करने वालों) के परम देवता अथवा स्वामी हैं। भगवान् आप को नमस्कार है।

रुद्रयामल में रससाधन-प्रकरण में :—

शिवरात्रिदिने प्राप्त आरम्भं कार्यसाधकैः।
चतुःषष्टिप्रमाणेन कोष्ठं कृत्वा तु भैरवम् ॥
पार्श्वयोर्मूर्तिमालाश्च मध्ये मूर्तिश्च विन्यसेत्।
तस्याग्रे जुहुयात्पश्चाद्धेमसिद्धिः प्रजायते ॥
रक्तोपवीतवासस्तु दद्याद्वै द्विजपुंगवम्।
कोष्ठसख्या तदर्द्धं योगिनीयंत्र पूजयेत् ॥
शृङ्गीनादेन ते सर्वे मानसाऽऽह्लादकारिणा।
रक्तो नस्त्वहकः श्रेष्ठः स्कन्धाग्रे शृङ्गमाश्रितः ॥
मुखं कमलया युक्तं नेत्रे कमलभूषणम्।
पृष्ठे च कमलाकारं हंसगत्या बिराजितम् ॥
रक्तवासोत्तरीयेन वरमन्त्रं पुरो न्यसेत्।
रक्तचन्दनसंघृष्टमपूपस्योपरि न्यसेत् ॥
स्वादयेत्पञ्चदिवसं पश्चात्पुण्यं समर्पयेत्।
रसायनी महाविद्या सिद्धिर्भवति निश्चिवम् ॥

शिवरात्रि के दिन रसायनी विद्या की सिद्धि करनेवाले साधकों को रसायन कार्य आरम्भ करना चाहिए। उस दिन चौसठ कोष्ठोंवाले भैरव-यंत्र का निर्माण करके उसके मध्य में भैरव की मूर्ति तथा उसके दोनों बगल सम्बन्धित मूर्तियों की स्थापना करनी चाहिए। इसके बाद (भैरव देवता को प्रसन्न करने के लिये) उनके सामने हवन करना चाहिए, इसमें स्वर्ण-सिद्धि (ताम्र आदि धातु को सोने में रूपान्तरित करने की सिद्धि) प्राप्त होती है। उस दिन लाल उपवीत और वस्त्र सुपात्र ब्राह्मण को दान करना चाहिए। इसी समय सोलह योगिनियों को भी पूजा करनी चाहिए। उसके बाद मन को आनन्दित करने वाले शृंगीनाद द्वारा उन सबको प्रसन्न करना चाहिए। मूर्ति के लिये लाल 'नस्वहक' श्रेष्ठ होता है। मूर्ति के स्कन्ध के अग्र भाग में शृंग, मुखस्थान पर नारंगी, नेत्रों की जगह कमल के पुष्प, पीठ में कमल का आकार, लाल परिधान एवं उत्तरीय तथा हंस की गति से मूर्ति को सुशोभित करके उसके सामने इष्ट मंत्र को लिख कर रख देना चाहिए। उसके बाद अपूप के ऊपर घिसे हुए लाल चन्दन से मंत्र को लिखकर पाँच दिन तक उसी को प्रसाद रूप में ग्रहण करना चाहिए। उसके बाद पूजन से प्राप्त पुण्य मूर्ति को समर्पित कर देना चाहिए। ऐसा करने से निश्चय ही रसायनी महाविद्या की सिद्धि होती है।

प्रणव की महिमा और परमधर्म (योग से आत्मदर्शन

तारासूक्त में—

प्रणवो निर्गुणः प्रोक्तः सर्वाद्यो वेदगोचरः।
वेदमाता तु गायत्री तदाद्यः प्रणवः स्मृतः॥

प्रणव को निर्गुण, सबका आदि और वेदों द्वारा ज्ञेय बतलाया गया है। है। गायत्री वेदों की माता है, परन्तु प्रणव उनका भी आदि कहा गया है।

कुलार्णवतन्त्र में—

श्रीनाथचरणाम्भोजं यस्यां दिशि विराजते।
तस्यै दिशे नमस्कुर्याद् भक्त्या प्रतिदिनं प्रिये॥
न पादुकात्परो मन्त्रो न देवः श्रीगुरोः परः।
नास्ति शाक्तात्परो मार्गो न पुण्यं कुलपूजनात्॥
(१२। ११-१२)

हे प्रिये ! श्रीनाथजी के चरण-कमल जिस दिशा में विराजमान हैं, उस दिशा को प्रतिदिन भक्तिपूर्वक नमस्कार करना चाहिए। पादुका-भूमि की चारों ओर घूमकर प्रदक्षिणा करने से श्रेष्ठ कोई दूसरा मंत्र नहीं है, श्रीगुरुदेव से उत्तम कोई दूसरा देवता नहीं है, शाक्त (शक्ति के उपासना-) मार्ग से श्रेष्ठ दूसरा कोई मार्ग नहीं है और कौलाचार (शक्तिसहित शिव के तान्त्रिक विधि से पूजन) से अधिक महत्वपूर्ण कोई पुण्य नहीं है।

वायुपुराण में शिवस्तोत्र :-

अप्रमेयाय गोप्त्रे च निर्गुणाय गुणाय च।
वादप्रियाय सम्याय मुद्रामणिधराय च॥
(२४। १४६)

देशकालउपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम्।
पात्रे प्रदीयते यत्तत्सकलं धर्मलक्षणम्॥
श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥
इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥
चत्वारो वेदधर्मज्ञा : पर्षत्त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाध्यात्मवित्तमः॥

जिनकी कोई प्रमा अर्थात् माप नहीं है, जो अप्रमेय हैं, जो भक्तों के रक्षक, निर्गुण और सगुण भी हैं, वाद-शास्त्रज्ञानचर्चा अथवा परमात्मज्ञान-विवेचन जिन्हें अधिक प्रिय है, जो सभ्य कल्याणस्वरूप हैं और मुद्रारूपी मणि को धारण करने वाले हैं, (उन शिवजी को नमस्कार है), उपयुक्त देश और काल के प्राप्त होने पर जो उपाय करके द्रव्य श्रद्धापूर्वक सुपात्र को दान दिया जाता है, वह सब धर्म का ही लक्षण है। श्रुति, स्मृति, सदाचार, अपना तथा आत्मा का प्रिय उत्तम संकल्प द्वारा उत्पन्न काम-ये सभी धर्म के मूल कहे गये हैं। योगमार्ग का आश्रय ग्रहण, स्वरूप का साक्षात्कार करना ही यज्ञ, सदाचार, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, दान और स्वाध्याय आदि कर्मों में परम धर्म है। चारों वेदों के धर्म के मर्मज्ञ अथवा तीन वेदों के मर्मज्ञों की परिषद् अथवा एकाकी अध्यात्मवेत्ता जो कुछ कहते हैं, वह धर्म माना जाता है।

शिव की श्रेष्ठता

षटशाम्भवरहस्य में:-

पृथ्वी कर्त्री महादेवी नाथाः शास्त्रस्य बन्धकाः।
ब्रह्मतत्वविदित्याद्याः शरभाद्यास्तुरक्षकाः॥
नाथान्तो वा महेशानि त्रितयं त्रितयं त्रिषु।
ईशाख्यस्तु महेशानि केरलान्तर्गतो भवेत्॥

महादेवी पृथ्वी कर्त्री-क्रिया में नित्य तत्पर रहती हैं, नाथगण शास्त्र के प्रबन्धक हैं और ब्रह्मतत्व के मर्मज्ञ अथवा ज्ञानी शरभ आदि रक्षक हैं, इनके नाम के अन्त में 'नाथ' शब्द जुड़ा हुआ है और तीन-तीन करके तीन भागों में बंटे हैं, परन्तु केरल में ये ईश के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सूतसंहिता के यज्ञवैभवखण्ड में-

विष्णवादीनां तु देवानां ध्यानं चाधममिष्यते।
अतो मोक्षार्थिभिः प्राज्ञैः शिव एकः शिवंकरः॥
ध्येयः सर्वं परित्यज्य शिवादन्यत्तु दैवतम्।
अस्मिन्नर्थे श्रुतिः साध्वी समाप्ता वेदवित्तमाः॥
अपक्वचित्तैर्मोक्षार्थं देवा विष्णवादयोऽपि च।
ध्येयाः पक्वैः शिवो ध्येयः साक्षात्संसारमोचकः॥
रुद्रं त्रिश्वाधिकं विष्णुं ब्रह्माणं चान्यमेव च।
समं चिन्वयतः साक्षात्संसारः परिवर्तते॥
महापापवतां पुंसां पूर्वजन्मसु सुव्रताः।
विष्णुः सर्वाधिको भाति न साक्षात्परमेश्वरः॥
विष्णुः सर्वाधिको नान्य इतिचिन्तयतां नृणाम्।
नास्ति संसारविच्छित्तिः कल्पकोटिशतैरपि॥
तेषां नैव च मोक्षाशा कल्पकोटिशतैरपि।
ब्रह्मादिदेवतानां च विश्वाधिक्यं वदन्ति ये॥
अधोमुखोर्ध्वपादास्ते यास्यन्ति नरकार्णवम्

(२।५३-६१)

विष्णु आदि देवताओं का ध्यान तो साधारण कोटि का कहा जाता है, अतः

मोक्ष प्राप्त करने की कामना करने वाले विद्वानों को अन्य देवादिकों के ध्यान में न उलझ कर एक मात्र कल्याणकारी (भगवान्) शिव का ही ध्यान करना चाहिए। इस विषय में साध्वी श्रुति तथा श्रेष्ठ वेदज्ञ सभी मौन हो जाते हैं, एकमत हैं। जो योग-ज्ञान में निष्णात नहीं हैं, मोक्ष–प्राप्ति के लिए विष्णु आदि देवताओं का भी ध्यान करना उनके लिए संगत है पर जो योगयुक्त हैं, उनके लिए संसार-बन्धन से छुटकारा (मुक्ति) दिलाने वाले साक्षात् शिव का ही ध्यान करना उचित सिद्धि-दायक हैं। विश्व में सर्वश्रेष्ठ रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा तथा अन्यान्य देवताओं का समान-रूप से ध्यान करने वाले के लिए बारबार संसार की प्राप्ति होती है, जन्म–मरण के चक्र में भ्रमण करना पड़ता है। श्रेष्ठ व्रतधारियो ! पूर्वजन्मों में महान् पाप करने वाले मनुष्य को विष्णु सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होते हैं, संसार के दुःख का नाश कर अपने भक्तों को अभय देने में अग्रगण्य इष्टदेव हैं। साक्षात् परमेश्वर नहीं, पर विष्णु ही परमपूज्य हैं, दूसरा कोई नहीं, ऐसी धारणा रखने वाले मनुष्य के लिए तो सैकड़ों कोटि कल्पो में भी संसार-बन्धन का विनाश नहीं होता तथा उन्हें मोक्ष की आशा भी नहीं करनी चाहिए, (क्योंकि उन्हें बार–बार शरीर धारण कर जन्म लेना और मरना पड़ता है) जो लोग ब्रह्मा आदि देवताओं को ही विश्व में श्रेष्ठ बतलाते हैं, वे नीचे मुख एवं ऊपर पैर करके नरक-समुद्र में गिरते हैं। (अलख-निरंजन शिव तो सृष्टि करने वाले ब्रह्मा, पालन करने वाले विष्णु और संहार करने वाले रुद्र से परे परमपद में विद्यमान हैं, निरवेद्य और परम कैवल्यस्वरूप हैं)।

आदिनाथ संहिता में—

> कौलिकान्कुलमार्गं च कुलद्रव्यं कुलांगनाः।
> ये द्विषन्ति जुगुप्सन्ते ये निन्दन्ति हसन्ति ये ॥
> येऽसूयन्ते च शङ्कन्ते मिथ्येति प्रवदन्ति ये ।
> ते शाकिनीमुखे यान्ति सदारसुतबान्धवाः ।
> पिबन्ति शोणितं तस्या चामुण्डा मांसमुत्त्वचः ।
> अस्थिनी चर्वयन्त्यस्य योगिनीभैरवीगणाः ॥

जो लोग कौलाचार में तत्पर साधकों, कौलमार्ग, कौलमार्ग की वस्तुओं तथा कौलमार्ग में दीक्षित स्त्रियों (जो कौलाचार द्वारा साधना में तत्पर होने पर साधक को सिद्धि प्राप्त कराने की आधारभूमि हैं) से द्वेष करते हैं, उनमें अश्रद्धा एवं उनकी निन्दा करते हैं, उनके गुण में दोष निकालते हैं, उन पर शंका करते हैं तथा उनके सम्बन्ध में वे सिर-पैर की बात करते हैं, कलंक लगाते हैं, वे स्त्री,

पुत्र, एवं बन्धु-बान्धवों सहित शाकिनी के मुख में गिरते हैं, नष्ट हो जाते हैं। वहाँ मांस को नोचकर खानेवाली चामुण्डा उनका रक्तपान करती और अगणित योगिनियाँ एवं भैरवियाँ उनकी हड्डियों को चबा डालती हैं।

रुद्राक्ष-प्रशंसा

पद्मपुराण सृष्टिखण्ड में—

> धारयित्वा तु रुद्राक्षं म्रियते यः क्षितौ नरः।
> स याति मत्पुरं रम्यं सर्वदेवैः सुपूजितः॥
> शैवो वा वैष्णवश्चान्यो गाणपत्योऽथसौरकः।
> (६१। २०६, २१५)

चाहे शैव हो या वैष्णव, शाक्त हो या गणेश का उपासक अथवा सूर्य का उपासक हो, किसी भी मत का अनुयायी क्यों न हो, जो मनुष्य पृथ्वीलोक में रुद्राक्ष धारण करके मृत्यु को प्राप्त होता है, वह मेरे परम रमणीय पुर को जाता है और समस्त देवगण उसकी पूजा करते हैं।

ललिता देवी की महिमा

पद्मपुराण पातालखण्ड में—

> अहं च ललितादेवी राधिका या च गीयते।
> अहं च वासुदेवाख्यो नित्यं कामकलात्मकः॥
> सत्यं योषित्स्वरूपोऽहं योषिच्चाहं सनातनी॥
> अह च ललितादेवी पुंरुपा कृष्णविग्रहा॥
> (७५। ४४, ४६)

मैं ही ललितादेवी हूँ और जो राधिका के नाम से प्रसिद्ध हैं, वह भी मैं ही हूँ। नित्य कामकलास्वरूप वासुदेव भी मैं ही हूँ। सभी स्त्रियाँ मेरी ही रूपवाली हैं और मैं ही सनातनी नारी (आदिशक्ति जगदम्बा) हूँ तथा पुरुष रूप में श्रीकृष्ण का विग्रह धारण करनेवाली ललितादेवी मैं ही हूँ, मैं श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट अथवा अभिव्यक्त होती हूँ।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में—

> महाविष्णोरहंकारो बभूव सहसेति च।
> सर्वं मल्लोमकूपेषु विश्वान्येवाहमीश्वरः॥

संहारभैरवो भूत्वा तं जग्राह स लीलया।
स्थिते मूर्द्धावशेषेण प्रसादं च चकार सः॥
सर्वात्मानं ध्यायमानं स्तुतं भीतं कृपानिधिम्।
तच्छरीरं सुसम्पन्नं पुनरेव चकार सः॥

एक बार महाविष्णु को सहसा अहंकार हो गया कि समग्र विश्व मेरे रोम-कूपों में विद्यमान हैं और मैं ही सबका ईश्वर हूँ। तब शिवजी ने संहारभैरव का रूप धारण करके लीलापूर्वक उन्हें (महाविष्णु को) पकड़ लिया (और संहार करना आरम्भ किया)। जब मस्तकमात्र अवशेष रह गया, तब महाविष्णु भयभीत हो गये और उन सर्वात्मा एवं कृपानिधि शिवका ध्यान और स्तवन करने लगे। इससे शिव जी प्रसन्न हो गये और महाविष्णु के उसी (छिन्न) शरीर को पुनः पहले की ही तरह सम्पन्न कर दिया।

शिवपुराण में—

क्व च भेरीकलापश्च क्व च शृङ्गीरवोऽशुभः॥
क्क चानकमयः शब्दो गल्लनादः क्व चापि हि।
(रुद्र-सं० पार्वतीखण्ड, २७। २९-३०)

कहाँ भेरियों के समूह, कहाँ शृङ्गी का अशुभ नाद, कहाँ ढोलों की गड़गड़ाहट और कहाँ गलोंकी गलगलाहट ?

शक्तिसंगमतन्त्र के अष्टम पटल में—

कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
लोकसम्मोहनार्थाय स्वरूपं बिभ्रती परा॥
कदाचिदाद्या श्रीकाली सैव तारास्ति पार्वति।
कदाचिदाद्या श्रीतारा पुंरूपा रामविग्रहा॥
रा शक्तिरिति विख्याता मशिवः परिकीर्तितः।
शिवशक्त्यात्मकं ब्रह्म रामरामेति गीयते॥
योगासनसमारूढं जटामण्डलमण्डितम्।
विभूतिभूषितं देवं त्रिनेत्रं चन्द्रशेखरम्॥
तेजः पुञ्जनिभां देवि सीतां तेजः स्वरूपिणीम्।
गौरीरूपां परां सीद्धां महासाम्राज्यनायिकाम्॥

कभी-कभी आद्याशक्ति ललितादेवी पुरुषरूप में श्रीकृष्ण के विग्रह में प्रकट होती हैं और कभी वे ही पराशक्ति लोकों (संसार के प्राणियों) को मोह में डालने के लिये अपना स्वरूप धारण कर लेती हैं। हे पार्वति ! कभी वे आद्या श्रीकाली और वे ही तारा हो जाती हैं। कभी आद्या श्रीतारा पुरुष-रूप में श्रीराम के विग्रह में आविर्भूत होती हैं। 'राम' शब्द का 'रा' शक्ति रूप से विख्यात है और 'म' को शिव कहा जाता है। इस तरह शिव-शक्त्यात्मक ब्रह्म ही 'राम' के नाम से अभिहित होता है। इसलिये देवि ! तुम योगासन पर आसीन, जटामण्डल से सुशोभित, विभूति से विभूषित, तीन नेत्रवाले, भगवान् चन्द्रशेखर को राम और तेजः पुञ्ज के समान तेजःस्वरूपिणी, महासाम्राज्यकी अधीश्वरी परा शक्ति सीता को गौरीरूप में ही प्रकट समझो।

ब्रह्म के दो रूप

बृहदारण्यक में

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं चयच्च सच्च त्यच्च। तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च तन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सतस्यै तस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः॥ अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतमेतद्यदेतत्वं तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषस्तस्य ह्येष रस इत्याधिदैवतम्॥ (२।३।१-३)

ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित और यत्(चर) तथा सत् और त्यत्। जो वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न है, वह मूर्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है और वह सत् है। इस मूर्तका, इस मर्त्य का, इस स्थित का, इस सत् का यह रस (सार) है, जो यह तपता है। यह सत् का ही रस है तथा वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त हैं, ये अमृत हैं, ये यत् हैं और ये ही त्यत् हैं। इस अमूर्त का, इस अमृत का, इस यत् का, इस त्यत् का यह सार है, जो इस मण्डल में पुरुष है, वही इस त्यत् का सार है। यह अधिदैवत-दर्शन है।

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत् प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थिमेतत्सतस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः॥ अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्यं तस्यैतस्यामूर्तस्यै तस्यामृतस्यै तस्य यतस्य एतस्य

स्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्त्यस्यह्येष रसः तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तं सकृद्विद्युत्तेव या वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति, नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ (२।३।४-६)

अब अध्यात्म मूर्तामूर्त का वर्णन किया जाता है—जो प्राण से तथा यह जो देहान्तर्गत आकाश है, उससे भिन्न है, यही मूर्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है, यह सत् है। यह जो नेत्र है, वही इस मूर्त का, इस मर्त्य का, इस स्थित का एवं इस सत् का सार है। यह सत् का ही सार है। अब अमूर्त का वर्णन करते हैं—प्राण और इस शरीर के अन्तर्गत जो आकाश है, वह अमूर्त है, यह अमृत है, यह यत् है और यही त्यत् है। उस इस अमूर्त का, इस अमृत का, इस यत् का, इस त्यत् का यह रस है, जो यह दक्षिण नेत्रान्तर्गत पुरुष है, त्यत् का रस है।

..........उस इस पुरुष का रूप-चमत्कार ऐसा है, जैसा कुसुम्भ से रंगा हुआ वस्त्र हो, जैसा सफेद ऊनी वस्त्र हो। जैसी बीरबहूटी हो, जैसी अग्नि की ज्वाला हो, जैसा श्वेत कमल हो और जैसी बिजली की चमक हो। जो ऐसा जानता है, उसकी श्री बिजली की चमक के समान होती है। अब इसके पश्चात् नेति-नेति यह ब्रह्म का निर्देश है। 'नेति—नेति' से बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है। 'सत्य का सत्य, यह उसका नाम है। प्राण ही सत्य हैं, उनका यह सत्य है।

पठित्वापि च न ज्ञातं ब्रह्म ते नाविका इव।
नयन्ति पारं ये त्वन्यान् स्वयमर्वाचि संस्थिताः ॥
शक्त्या तु सृज्यते विश्वः शिवेन परिपाल्यते।
कालेन संह्रियते च मुक्तिर्नाथेन दीयते ॥ इति ॥

शास्त्रों का अध्ययन करके भी जिन्हें ब्रह्म-ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, उनकी दशा उन नाविकों के समान है, जो दूसरों को तो नदी के उस पार पहुँचा देते हैं, परन्तु स्वयं पीछे की ओर अर्थात् पूर्व तट पर ही (जहाँ से नाव लेकर चलते हैं, वहीं) लौट आते हैं। शक्ति विश्व की सृष्टि करती है, शिव उसकी रक्षा करते हैं, काल द्वारा उसका संहार होता है और श्रीनाथ मुक्ति प्रदान करते हैं।

ब्रह्मतन्तु-धारण

ब्रह्मण्यप्राप्ते सति ब्रह्मतन्तुधारणमयुक्तम्। केचित्सूत्रधारकाः केवलं

जात्यामिमानिनः पुरुषाः । अथ च काष्ठदण्डधारका आश्रमिणो दण्डिन-स्तेषां खण्डनकरणे उपनिषत्सम्मतिमाह ब्रह्मोपनिषदि—

ब्रह्म की प्राप्ति न होनेपर ब्रह्मतन्तु को धारण करना व्यर्थ है। कुछ सूत्र (यज्ञोपवीत) धारी पुरुष केवल जाति के अभिमानी होते हैं। अब काष्ठदण्ड को धारण करने वाले संन्यासाश्रमी दण्डी उनका खण्डन करने के लिए उपनिषद् को सम्मति (प्रमाण रूप में) प्रस्तुत करते है, ब्रह्मोपनिषद् में कहा गया है—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।
सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद् बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥
सूचनात्सूत्र मित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्वदर्शिवान् ॥
बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः।
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ॥
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्।
ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः।
तैः संधार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥
इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम्।
विद्वान् यज्ञोपवीती स्यात् स च सर्ववित् ॥ इति ॥

सृष्टिके आदिमें जो प्रजापतिके साथ उत्पन्न हुआ है एवं परम पवित्र है, आयु को प्रदान करनेवाला और अत्यन्त महिमावान् है, उस तेजोमय यज्ञोपवीत-

को मुझे धारण कराइये। यह यज्ञोपवीत मेरे लिये बल और तेजका प्रदाता हो। बुद्धिमान्‌को चाहिये कि शिखासहित मुण्डन कराकर बाह्यसूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत-का त्याग कर दे और जो अविनाशी परब्रह्मरूप सूत्र है, उसे धारण करे। सूचन करनेके कारण उसे 'सूत्र' कहते हैं। सूत्र परमपदका नाम है। उस सूत्रको जो जानता है, वही ब्राह्मण वेदोंका पारगामी (वेदों में पूर्ण निष्णात) विद्वान् होता है। जिसके द्वारा यह सारा विश्व सूत्रमें मणिसमूहोंकी भाँति ओतप्रोत है, वही सूत्र योगवेत्ता तत्त्वदर्शी योगीको धारण करना चाहिये। उत्तम योगमें स्थित विद्वान्‌को बाह्य सूत्रका परित्याग कर देना चाहिये; क्योंकि जो इस ब्रह्मरूप सूत्रको धारण करता है, वही चेतन (आत्मस्वरूप में स्थित) प्राणी है। यह सूत्र धारण करनेसे न तो यह कभी उच्छिष्ट होता है, न अपवित्र ही। ज्ञानरूप यज्ञोपवीत धारण करने-वाले जिन लोगोंके भीतर यह (ब्रह्मभावात्मक सूत्र) विद्यमान है, वे ही लोकमें सूत्र वेत्ता हैं तथा वे ही यथार्थ यज्ञोपवीतधारी हैं; क्योंकि उनके लिये ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट है और ज्ञान परमपवित्र कहा जाता है। जिस तरह अग्नि की एक ही शिखा होती है, दूसरी नहीं, उसी तरह जिसकी शिखा केवल ज्ञानमयी है, वही विद्वान् 'शिखी'— शिखाधारी कहा जाता है, उसके अतिरिक्त केवल केश धारण करनेवाले लोग 'शिखी' नहीं कहलाते। जो ब्राह्मण आदि द्विज वैदिक कर्मके अधिकारी हैं, उन्हें यह सूत्र धारण करना चाहिये; क्योंकि यह क्रियाका अङ्ग कहा गया है। जिसकी शिखा ज्ञानमयी और यज्ञोपवीत ज्ञानमय है, उसींका सम्पूर्ण ब्राह्मणत्व है, वही ब्रह्मभावा-पन्न समस्त आचार-विचार से युक्त है, ऐसा ब्रह्मवेत्तालोग कहते हैं। जो इस परम पवित्र यज्ञोपवीतको धारण करता है, वही विद्वान् यज्ञोपवीतधारी है, वही यज्ञ-स्वरूप है और वही सर्वज्ञ है।

परमहंसोपनिषद् में—

परमात्मात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा संध्या।

जिसमें परमात्मा और (जीव-) आत्माके एकत्व (अभिन्नता) का ज्ञान हो जानेसे उनका (तथाकथित) भेद ही नष्ट हो जाता है (पूर्ण अभेदता सिद्ध हो जाती है) वही संध्या है।

सर्वान् कामान्परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः।
ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते॥
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः।
+ + + +
स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञकान्॥ इति॥

जिसने सम्पूर्ण कामनाओंका परित्याग करके परमश्रेष्ठ अद्वैत तत्त्व में स्थित होकर ज्ञानरूप दण्ड धारण कर लिया है, वह एकदण्डी कहलाता है, किंतु जिसने केवल काष्ठका दण्ड ही ले रखा है, वह सर्वभक्षी एवं ज्ञानरहित है। मृत्युके बाद वह महारौरवनामक घोर नरकोंमें गिरता (पतित होता) है ।

शास्त्राभ्यासकी अपेक्षा योगाभ्यासका औचित्य

शास्त्रोक्तविषयाभ्यासमजानन्तः केवलं शास्त्रपाठमात्रेणैवाभिमानिनस्तान्प्रतिवाक्यमेतदित्याह—द्वादशवर्षो भूत्वा विद्याभ्यासमर्हति ततश्च यावद्द्वादशवर्षं शब्दबोधार्थं व्याकरणशास्त्रमध्येतव्यं ततश्च यावद् द्वादशवर्षमर्थबोधार्थं न्यायशास्त्रमध्येतव्यं ततश्चयावद्द्वादशवर्षं वेदोऽध्येतव्यस्ततश्च षट्सु वर्षेषु वेदान्ताभ्यासः कर्तव्यः, एवं षट्सु वर्षेषु शास्त्रीयरीतिर्ज्ञातव्या। पुनरभ्यासश्च कर्तव्यः, एवमायुषोऽर्द्धं तु गतप्रायमेव। ततः पुनरिन्द्रियाणां शैथिल्येऽरिष्टे च सत्यभ्यासाशक्तत्वं भवेत्। अतः प्रथमतः साक्षरतामात्रं पाण्डित्यमापाद्य मनुष्यैर्योगाभ्यासः कर्तुमुचित इति।

जो लोग शास्त्रोक्त (शास्त्र में निरूपित तथा निर्दिष्ट) विषयोंके अभ्यासको न जानते हुए केवल शास्त्रोंके पठनमात्रसे गर्वोन्मत्त रहते हैं, उन्हीं के प्रति यह अगला वाक्य कहा गया है—बारह वर्षकी अवस्था होनेपर मनुष्य विद्याभ्यासके योग्य होता है, उसके बाद बारह वर्ष तक शब्द-ज्ञानके लिये व्याकरण-शास्त्रका अध्ययन करना चाहिये। उसके बाद बारह वर्षतक अर्थ—ज्ञानके लिये न्यायशास्त्रका परिशीलन करना उचित है, उसके बाद बारह वर्ष तक वेदोंका अनुशीलन करना चाहिये, उसके बाद छः वर्षों में वेदान्तका अभ्यास करना चाहिये, इसी प्रकार छः वर्षों में शास्त्रीय रीतिका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और फिर अभ्यास करना चाहिये। इस तरह आयुका आधा भाग तो प्रायः बीत ही (समाप्त हो) जाता है। उसके बाद फिर इन्द्रियोंकी शिथिलता तथा अरिष्ट के प्राप्त होनेपर अभ्यास करनेमें असमर्थता आ जाती है—अभ्यास करने की शक्ति नहीं रह जाती है। अतः मनुष्यों के लिये आदिमें साक्षरतामात्र (अक्षर ज्ञान का अभ्यास कर)-पाण्डित्य प्राप्त करके योगका अभ्यास करना ही उचित है।

नाथाम्नाय का वर्णन और सिद्ध-सिद्धान्त का निरूपण

ये त्वाचारबाहुल्यं दधतोऽपि वेश्यां उपगम्य तत्सङ्गं कुर्वन्ति तान् प्रत्यस्माकमिदं कथनं बाह्यविषयिकामुज्ज्वलतां प्रदर्श्य मानसी मलिनता धार्यते । ततस्त्विदं श्रेयो यद् वेश्यासंगोऽपि न कर्तव्यो बह्वाचारस्यापि प्रयोजनं नास्ति गौणोऽयमित्याचारं ज्ञात्वा तस्य त्यागोऽपि न कार्यः, यथायोग्यत्वेन विवेकपूर्वकं सेवनं चास्य कर्तव्यमिति ।

जो लोग अनेकों प्रकार के आचारों का पालन करते हुए भी वेश्या के निकट जाकर उसका सहवास करते हैं, उनके प्रति हमारा यह कथन है-ऐसे लोग बाहर से दिखावेवाले तड़क-भड़क दिखाकर आन्तरिक मलिनता ही धारण किये रहते हैं। (मन में अपवित्रता बनाये रखते हैं) उससे तो यही कल्याणकर है कि वेश्या का संग हीन किया जाय ।बहुविध आचार का पालन करना भी आवश्यक नहीं है,क्योंकि यह गोण है । हाँ, आचार को जानकर उसका त्याग भी नहीं करना चाहिये, अपितु योग्यतानुसार विवेकपूर्वक उसका सेवन करना ही उचित है ।

भवेय मनुष्योयदैकस्तु राजा यदा जन्तुरेको भवेयं मृगेन्द्रः ।
यदा शास्त्रमेकं तदा योगमेव यदा देव एकस्तदा नाथ एव ॥

जब मैं मनुष्य होऊँ तो (सभी पर शासन करने वाला) चक्रवर्ती सम्राट् बनूँ, जब मैं पशु होऊँ तो एक मात्र सिंह बनूँ, जब शास्त्र होऊँ, तबएकमात्र योग-शास्त्र ही मेरा रूप हो, जब देवता होऊँ तब एकमात्र साक्षात् (महादेव शिव) नाथस्वरूप हो जाऊँ ।

अस्मिन् मार्गे अद्वैतोपरिवर्ती नाथो देवता, प्राप्या निराकारज्योतिर्नाथो ध्येयः, साकारनाथ उपास्योऽथ च आदिगुरुः, साधनं योगः ।

इस मार्ग में अद्वैत से परे परमेश्वर नाथ देवता हैं, निराकार ही ज्योति प्राप्त करने योग्य है, नाथ ही ध्यान करने योग्य हैं, (ध्येय हैं) साकार नाथ (स्वरूप में अभिव्यक्त) आदिगुरु उपासनीय हैं और योग ही साधन है ।

अत्याश्रमी योगी गुरुः, मुमुक्षुः साधकः, अवधूतगुरोर्मुख्यं चिह्नं नादो मुद्राभस्मशैलीऊर्णायज्ञोपवीतमित्यादि । शक्तिर्जगत्कर्त्री शिवः पालकः ।

कालः संहारकः । नाथो मुक्तिदायकः । प्रणवो वेदः । नादः संतानम् । नव नाथाः । बिन्दुः संतानमीश्वरः । मनः शरीरम् । जीवो अनुभवः । चत्वारो गुरुवः–मत्स्येन्द्र ईश्वरश्चतुरंगी गोरक्ष इति स्वरूपाः ।अपक्षवास्तविकपक्षमंगीकृत्येतरकल्पितपरपक्षपाखण्डखण्डनमित्यादिविषयः परमहंस इति परमहंसं वदन्ति । तत्किम्, उत्कृष्टहंसोऽस्ति यतो निकृष्टहंसत्वं तु परमात्मा । उत्कृष्टहंसत्वं तु परमहंसस्य कुत आगत यदा ब्रह्मस्वरूपत्वं प्राप्तः । ब्रह्मस्व–रूपत्वं च कुतः प्राप्तं यदि मायागुणरचितप्रारब्धकर्माणि मन्यते, एवं चायं तु निकृष्टहंस एव जीवोऽस्ति, ततश्चैतस्य हंसत्वं मरालत्वं कुतः किन्तु काकत्वमेव । यदि काकत्वं तह्यॅमेकाक्षो जावः । एकाक्षः को य एकेनैव चक्षुषा पश्यति, यद्ययं वर्णी तदा मायामेव मायादृष्टयापश्यत् यदा चाश्रमी जाग्रस्तदा ह्यद्वैतदृशैव पश्यन् वर्तते । इयमप्येकैव दृष्टिस्तया पश्यति । यतो महासिद्धैर्निश्चयः कृतोऽयं काकतुल्यो यदेवमेकाक्षः कर्त्तव्यः ।

अत्याश्रमी अर्थात् अवधूत योगी गुरु है । मोक्ष प्राप्त करने का इच्छुक साधक है । अवधूत गुरु के मुख्य चिह्न नाद,मुद्रा,भस्म, शैली और उर्णायज्ञोपवीत(जो काले भेड़ के ऊन से बनाया जाता है) आदि हैं । शक्ति जगत् की सृष्टि करती है । शिव पालन करते हैं । काल संहार करता है । नाथ मुक्ति देते हैं । ऊँकार ही वेद है । नाद संतान है । नौ नाथ हैं । बिन्दु संतान और ईश्वर है । मन शरीर है । जीव अनुभव है । मत्स्येन्द्र, ईश्वर, चतुरंगी (चौरंगी) और गोरक्ष-स्वरूपवाले चार गुरु हैं । पक्षपातरहित वास्तविक–पक्ष को अंगीकार करके दूसरे कल्पित परपक्ष एवं पाखण्ड का खण्डन आदि विषय परमहंस (योगज्ञान में स्थिति) है । अब परमहंस (रूप) का वर्णन है–वह क्या है ? वह उत्कृष्ट हंस है, क्योंकि निकृष्ट हंसत्व तो परमात्मा में है । परमहंस में उत्कृष्ट हंसत्व कहाँ से आ गया ? जब वह ब्रह्म-स्वरूपत्व को प्राप्त हुआ, उसका ब्रह्मस्वरूपत्व कहाँ से प्राप्त हुआ ? जब वह माया एवं गुणों द्वारा रचित प्रारब्ध कर्मों को मानता है । इस प्रकार यह निकृष्ट हंस ही जीव है । इसलिए इसका हंसत्व मरालत्व (मराल–शुद्ध हंस के गुण से युक्त) कैसे हो सकता है, किन्तु वह तो काकत्व (काकस्वभाव से युक्त) ही है । यदि काकत्व है तो एकाक्ष (एक पक्ष का समर्थक) हो गया । एकाक्ष कौन है, जो एक ही आँख से देखता है । यदि यह ब्रह्मचारी है तो माया की दृष्टि से माया को ही देखता है और जब यह संन्यासी हो जाता है, तब अद्वैत–दृष्टि से देखता हुआ व्यवहार करता है । यह भी एक ही दृष्टि (पक्ष) है और वह उसी से देखता है (उसी का समर्थक है) । यही कारण है कि महान् सिद्धों ने यह निश्चय कर

रखा है कि जब यह काक-तुल्य है (काक के स्वभाव से युक्त है, एक ही दृष्टि अथवा पक्षवाला है) । तो इसे एकाक्ष कर देना चाहिए ।

सत्य प्रपञ्चं कुर्वन्तो ब्रह्मणश्छादनं तथा ।
केचिद्रजोदृशः प्राप्ता विषयासक्तमानसाः ॥
मिथ्यामिथ्येति कुर्वन्तः केचिन्मायाविमोहिताः।
लय सर्वस्य कुर्वन्त आगता विश्वनाशकाः ॥
देदीप्यमानस्तत्वस्य कर्ता साक्षात्स्वयं शिवः।
संरक्षन्तो विश्वमेव धीराः सिद्धमताश्रयाः ॥
तत्वं रक्षन्ति चाद्वैते द्वैते रक्षन्ति संसृतिम् ।
एकीभावे ततो भिन्नं द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥
मिथ्या वदन्ति यतयः सत्यं चापि विरागिणः ।
सिद्धानामेव सिद्धान्तः सत्यमिथ्याविवर्जितः ।
म्रियते चेत्कथं सत्यं वर्तते चेत्कथं वृथा ।
मृतिजीवनहीनं यत्कथं सत्यं कथं वृथा ॥
एककाले भवेत्सत्यमेककाले तथा वृथा ।
कालभेदाद् वृथा सत्यं न सत्यं न वृथा पृथक् ।:

विषयों में आसक्त मनवाले कुछ ऐसे रजोगुणी दृष्टि के व्यक्ति हैं, जो जगत् तथा ब्रह्म के आवरण को सत्य मानते हैं। कुछ माया से विमूढ़ चित्तवाले सत्य और मिथ्या-दोनों मानते हैं। कुछ विश्वका विनाश करनेवाले लोग सब का लय कर देते हैं, परन्तु सर्वत्र (सब में) सद्भासित (स्वप्रकाशित) साक्षात् स्वयं शिव ही तत्व के कर्ता हैं तथा सिद्धमत का आश्रय ग्रहण करनेवाले धैर्यशाली योगी विश्व के संरक्षक हैं। वे अद्वैत मत में स्थित हो कर (सत्) तत्व की रक्षा करते हैं और द्वैत-मत में सृष्टि का पालन करते हैं तथा दोनों का एकीभाव हो जाने पर उससे भिन्न द्वैताद्वैतरहित-विवर्जित योग-मार्ग का आश्रय लेते हैं। यति लोग उसे मिथ्या और विरागी-समुदाय-वैराग्य-पन्थ का वरण करनेवाले सत्य कहते हैं, किन्तु सिद्धों का सिद्धान्त तो सत्य और मिथ्या से परे अथवा अतीत है, क्योंकि यदि वह मरता है तो सत्य नहीं है और यदि वर्तमान है तो मिथ्या किस तरह माना जाय ? जो जीवन-मरण से रहित है, उसके प्रति सत्य और मिथ्या की कल्पना किस तरह की जा सकती है ? इसका रहस्य यह है कि किसी समय वह सत्य हो जाता है तथा किसी समय मिथ्या, इस तरह यह सत्य और मिथ्या की

कल्पना कालभेदसे है, वास्तवमें न वह सत्य ही हैं और न उसके पृथक् मिथ्या ही (वह साक्षात् अलख-निरञ्जन परमात्मस्वरूप है ।)

नाथादिपञ्चक का स्तवन

मनोवागतीतो मनोवाङ्मयश्च नाथः १ । नाथः २ । शक्तिः ३ । कर्ता ४ । अकर्ता ५ । एतत्पञ्चकमिति । क्रमेणैतत्पञ्चकं स्तौति—

१-मन और वाणीसे अतीत तथा मन और वाणी से युक्त नाथ, २-नाथ, ३-शक्ति, ४- कर्ता, ५-अकर्ता—यही नाथपञ्चक है । अब क्रमशः इस पञ्चककी स्तुति की जाती है—

अवाच्यमुच्येत कथं पदं तदचिन्त्यमप्यस्ति कथं विचिन्तयेत् ।
अतो यदस्त्येव तदस्ति तस्मै नमोऽस्तु कस्मै बत नाथतेजसे ।।
अकर्तृतत्कर्तृ च तत्परं पदं वदन्ति योगामृततृप्तचेतसः ।
अकर्तृता कर्तृतया निरूप्यते न वास्तवी वस्तुनि तद्द्वयी कुतः ।।
अवाच्यरूपा सदसद्विलक्षणा विचक्षणा सा कृतलक्षणापि सा ।
नमामि तां शक्तिमकर्तृतामयीं स्वतःकरोत्येव च कर्तृतामयीम् ।।
निजेच्छया काण्डसमुद्भवाप्ययानुमानया दर्शितकर्तृतं शिवम् ।
नमाम्यभित्तावपि चित्रितं जगद्विचित्रमेतत्त्वनपेक्ष्य चेतरम् ।।
ममेदमस्याहमहंमहाक्रियः सदैव कर्तेत्यभिसंधिपूरितम् ।
करोत्यकर्तारमुदारलीलया य उच्यते नाथ इति श्रियेऽस्तु नः ।।
प्रसंगजं कर्तृपदं विहाय यः फणीव निर्मोकमना पदास्थितम् ।
नमाम्यकर्तारमकर्तृतामयं यदस्ति सोऽस्मीत्यगुणः स्वयं स्थितः ।।

जो पद अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन किस तरह किया जाय और जो अचिन्त्य है, उसका चिन्तन किस तरह किया जाय, इसलिए जो है, वह वैसा ही है । मेरा तो उस नाथ-तेजको नमस्कार है । योगामृतसे तृप्त चित्तवाले(योगा-सिद्ध पुरुष) उस परम पदको अकर्तृता (अकर्तापन) एवं कर्तृता (कर्तापन) दोनों से युक्त बतलाते हैं, परन्तु अकर्तृता का निरूपण कर्तृताके आधारपर ही किया जाता है, वह वास्तविक नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तुमें उन दोनोका होना किस तरह सम्भव है ? जिसका स्वरूप अनिर्वचनीय है, जो सत् और असत्से विलक्षण है, दूरदर्शिनी और कृतलक्षणा है, उस अकर्तृतामयी शक्तिको मैं नमस्कार

करता हूँ। वह स्वतः ही अपने को कर्तृतामयी बना लेती है। जिन्होंने अपनी इच्छा जगत्‌की उत्पत्ति एवं प्रलय तथा अनुमानसे अपने कर्तृत्वको प्रदर्शित किया है और अन्य की अपेक्षा न करके भित्ति–आधार के न रहनेपर भी इस विचित्र जगत् को चित्रित कर डाला है, उन शिव को मैं प्रणाम करता हूँ। जो अकर्ता को उदार लीलापूर्वक सदैव यह मेरा है, मैं इसका हूँ, मैं महान् कर्म करने वाला कर्ता हूँ, इस प्रकार की उद्घोषणा से पूर्ण करते रहते हैं और जिन्हें 'नाथ' कहा जाता है, वे हमारे लिए मंगलदायक हों। जो केंचुल को छोड़कर शुद्ध हुए सर्प की तरह प्रसंगजन्य कर्तृत्व का त्याग करके अपने पदपर स्थित रहते हैं तथा 'जो कुछ है, वह मैं हूँ'–इस प्रकार स्वयं गुणरहित (निर्गुण) रूपसे विद्यमान रहते हैं, उन अकर्तृतामय अकर्ता को मेरा नमस्कार है।

यस्य साक्षादनुभवः शास्त्रज्ञानेन तस्य किम्।
चेष्टा स्वभावजा स्त्रीणां कविभिर्वर्ण्यते श्रमैः॥
जातमात्रं पिबेद्वत्सो बालको वाप्यपाठितः।
यथा मातुः स्तनं पक्षी न तथा पाठितोऽपि सन्॥
पिबन्तोऽप्यमृतं नित्यममरा नामरा इह।
सिद्धावधूता अमरा गृह्णन्तो विषयं विषम्॥
ज्ञानेन च्छिद्यमानं तु कर्मांकुरमुपाददे।
तदेव योगच्छिन्नं तु यान्ति निर्मूलतां द्रुतम्॥
संचितं क्रियमाणं च कर्म नश्यति तन्मते।
प्रारब्धं न पुनस्तत्र प्रमाणं श्रुतिरुच्यते॥
भूतकालोद्भवं कर्म भाट्टाः सत्यं प्रकुर्वते।
कालत्रितयजं कर्म त्यजत्यत्याश्रमी द्रुतम्॥
पत्रं पुष्पं फलं शाखा छिद्यतेऽपि पुनः पुनः।
न यावच्छिद्यते मूलं तावद्वृक्षः प्ररोहति॥
पुनः पुनर्भृतो वारा सूक्ष्मच्छिद्रेण संयुतः।
कलशो रिक्ततां याति विफलः श्रम एव सः॥
यान्तु गङ्गा गयां यान्तु नमस्त्वश्ममयान् सुरान्।
कायालये विभात्येको जगदात्मा स विस्मृतः॥

जिसे साक्षात् रूपसे अनुभव प्राप्त हो गया है, (अलख निरञ्जन की परोक्षानुभूति हो गयी है) उसका शास्त्रज्ञानसे क्या प्रयोजन है। कवियों (विद्वानों) ने

बड़े श्रमसे अनुभव प्राप्तकर स्त्रियों की चेष्टा स्वाभाविक बतायी है। बालक अथवा बछड़ा बिना सिखाये हुए भी जिस प्रकार जन्म लेते ही माताका स्तन पीने लगता है, उस तरह सिखाये जानेपर भी पक्षी नहीं पीता। नित्य अमृतका पान करते हुए भी देवतालोग इस मृत्युलोक में अमर नहीं हो सके, किंतु सिद्ध अवधूत विषरूप विषय को ग्रहण करते हुए भी अमर हो जाते हैं। ज्ञानद्वारा छेदन किया गया कर्म पुनः अंकुर उत्पन्न करता है, किंतु उसी को यदि योग द्वारा काट दिया जाय तो वह शीघ्र ही निर्मूल हो जाता है! ज्ञानियों के मत में संचित और क्रियमाण कर्मका नाश होता है, परंतु प्रारब्धका नहीं, इस विषयमें वे श्रुतिका प्रमाण देते हैं। भट्ट लोग (पूर्व-मीमांसक) भूत कालमें घटित कर्मको सत्य मानते हैं, किंतु अत्याश्रमी अवधूत तीनों कालोंमें उत्पन्न हुए कर्मका तत्काल ही परित्याग कर देता है। पत्र, पुष्प, फल और शाखाके बार-बार काटे जानेपर भी जबतक मूलका छेदन–नाश नहीं कर दिया जाता, जड़ को नहीं समाप्त कर दिया जाता, तबतक वृक्ष बढ़ता ही रहता है। यदि घड़ा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म छिद्रसे संयुक्त होता है (घड़ेमें नाममात्र का छेद रह जाता है।) तो उसमें बारबार जल भरते रहनेपर भी वह खाली हो जाता है, अतः जल भरने का परिश्रम व्यर्थ ही है। भले ही लोग गंगा स्नान करने जायँ, गयाकी यात्रा करें तथा पत्थर (पाषाण में प्राणप्रतिष्ठित देवता) को नमस्कार करें, किंतु इससे उन्हें विशेष लाभ नहीं होगा: क्योंकि शरीररूप मन्दिर में जो जगदीश्वर (महेश्वर शिव) देव विद्यमान हैं, उन्हें तो वे लोग भूल ही जाते हैं। (पाषाणमें प्राणा-भिमन्त्रित परमात्मा और हमारे शरीर में व्याप्त जगदीश्वर अभिन्न हैं।

संन्यासिनो विजानन्तु कथयन्तु च पण्डिताः।
अवधूताः क्रियासिद्धास्तत्स्वरूपा निरञ्जनाः॥
योगदेहं सृजत्येत कालमीत्था त्ववत्ययम्।
हन्ति वैषयिकं देहं तन्नाथः को हरीश्वरः॥
सृजत्यब्जो हरिः पाति हरः संहरते जगत्।
तेभ्योऽन्यो मुक्तिदस्त्वत्र सकेतः सिद्धयोगिनाम्॥
चतुर्भिः पथिभिर्यान्ति चत्वारो ज्योतिरालये।
योगिनो वैदिका लोकास्तान्त्रिका व्यवहारिणः॥
योगिनो योगयज्ञेन केवलं ज्योतिरुत्तमम्।
इष्ट्वा यान्तीष्टमार्गेण द्रुतंतत्खेचराइव॥
स्ववर्णाश्रमधर्मेण वैदिका समुपास्य तत्।
निवृत्तिपरमा यान्ति तद्भूमाविव मानुषाः॥

तान्त्रिकाः शुद्धविपणिविषयान्परिहाय तत्।
दुर्गमेन पथा यान्ति जरा इव जने जनाः॥
संसारिणस्तु संसारप्रलये प्राप्नुवन्ति तत्।
कृतयात्रमिवाधीशं सर्वे लोका निरर्गलाः॥
न कुर्याद् बुद्धिमान् प्रीतिं वृथा वस्तुनि फल्गुनि।
मृगतृष्णामयं मायाजालं किं मन्यते यतः॥
मोक्षशास्त्रकृतो नैव दृष्टा मुनिजना नृपाः।
नीतिशास्त्रकृतः कान्ता शृंगारग्रन्थकारिकाः॥
मूलं मोक्षस्यावधूतो नीतिमूलं नराधिपः।
कान्ताशृंगारमूलं यद्वाचारम्भणमस्ति नः॥

संन्यासी ज्ञानी होते हैं और पण्डितलोग बोलनेमें निपुण होते हैं, किंतु अवधूत क्रियासिद्ध, (आत्मतत्व) स्वरूप और माया से निर्लिप्त होते हैं। जो विषय-सम्बन्धी शरीरको नष्ट कर देते हैं तथा योगदेहकी सृष्टि करते हैं और कालके भयसे इसकी रक्षा करते हैं, वे कौन हैं ? वे हरीश्वरस्वरूप (परब्रह्म) नाथ हैं। कमलसे जन्म लेनेवाले ब्रह्मा जगत्की सृष्टि करते हैं, विष्णु उसका पालन करते हैंतथा शिव उसका संहार करते हैं, किंतु उनके अतिरिक्त मुक्तिदाता कोई और है, जिसके लिये सिद्ध योगियों ने संकेत किया है, (वे नाथ हैं)। योगी, वैदिक, तान्त्रिक और लोक-व्यवहारी — ये चारों अलग-अलग चार मार्गोंद्वारा ज्योति-मन्दिरमें जाते हैं। इनमें योगी योगयज्ञद्वारा केवल उत्तम ज्योतिका यजन करके अभीष्ट मार्गसे आकाशचारी जीवकी तरह शीघ्र ही वहाँ पहुँचते हैं। वैदिक लोग अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार उसकी उपासना करके निवृत्तिपरायण होकर भूतलपर प्राप्त हुए मनुष्यकी तरह उस स्थानको प्राप्त होते हैं। तान्त्रिकगण शुद्ध बाजाररूप संसारके विषयों का परित्याग करके कठिन मार्गसे उसी प्रकार वहाँ जाते हैं, जिस प्रकार जनलोकमें मनुष्य बुढ़ापेको प्राप्त होते हैं। संसारी लोग संसारका प्रलय हो जानेपर उसे प्राप्त होते हैं, क्योंकि उस समय यात्रापर निकले हुए नरेशकी तरह सभी लोग स्वच्छन्द हो जाते हैं। बुद्धिमान् पुरुषको छोटी-छोटी वस्तुओंमें व्यर्थ ही प्रीति नहीं करनी चाहिये; क्योंकि यह मायाजाल मृगमरीचिकाके समान है, अतः इसकी क्या मान्यता है। मोक्षशास्त्रके प्रणेताओंको तो देखा ही नहीं गया कि वे मुनिगण थे या नरेश; किंतु नीतिशास्त्रके रचयिता तो शृंगारग्रन्थके कमनीय कारिकास्वरूप थे (शृंगारपरक ग्रन्थोंके अभिप्राय के प्रकाशक—व्याख्याकार थे)। मोक्षका मूल अवधूत, नीतिका मूल नरेश—राजा और शृंगारका मूल स्त्री हैं। हमारे लिये वचनका वाग्विलासमात्र है।

योगकी प्रशंसा

एवं ते त्रयोऽपि क्रियायामेव प्रसन्नाः, क्रियायुक्तेति कथनेनापि प्रसन्नाः, परन्तु न तु क्रियारहितकथनेन प्रसन्नास्त्रयेण त्रयोऽपि पुरुषाः स्वसंगवर्जितास्तद्यथा अवधूत इति, विनानुभवेन शास्त्रारम्भकाः पुरुषा इति, राजनीतिकर्तव्यताहीना भृत्या इति, स्त्रीजन इति, पुरुषार्थहीनाः पुरुषा इति, तास्त्रींस्त्रयो हसन्ति, कथम् ? एकेन केनापि पुरुषेण मन्दकामेन कस्यापि वैद्यस्य गृहे गत्वा तं प्रति स्वचेष्टोक्ता तदा वैद्येनोक्तं यत्नं करिष्यामीति । तस्य वैद्यस्य वधूः पार्श्ववर्तिनी सहासा जाता, तस्या अभिप्रायोऽयम्—अयं मम भर्ता वैद्यः स्वयमपि नपुंसकोऽन्यस्य कामोदययत्नं कथं करिष्यतीति, स्वयमसमर्थोऽन्यसामर्थ्योपायं करिष्यतीति प्रतारणामात्रमिति ।

इस प्रकार वे तीनों भी कर्म करनेमें ही प्रसन्न हैं, क्रियायुक्त हैं—ऐसा करनेसे भी प्रसन्न हैं, परन्तु क्रियारहित कहनेसे प्रसन्न नहीं हैं । वे तीनों ही पुरुष तीनोंके साथ परस्पर अपने-अपने संगसे रहित हैं—जैसे अवधूत, अनुभवहीन शास्त्रका आरम्भ करनेवाले पुरुष, राजनीतिकी कर्तव्यतासे रहित सेवक, स्त्री-समुदाय, पुरुषार्थहीन पुरुष, इस प्रकार तीनों तीनोंका उपहास करते हैं । कैसे ? किसी एक मन्दकामी काम-भोग-विलास में अशक्त पुरुषने किसी वैद्यके घर जाकर उससे अपनी स्थितिका वर्णन किया, तब वैद्यने कहा—'इसके लिये प्रयत्न करूँगा ।' उस वैद्यकी पत्नी वहीं बगलमें खड़ी थी, वह जोर से हँस पड़ी । उसका अभिप्राय यह था कि जब ये मेरे पति वैद्य स्वयं ही नपुंसक हैं (कामचेष्टामें अशक्त हैं), तब दूसरेकी काम-भोग-शक्ति के लिये किस तरह प्रयत्न करेंगे । जो स्वयं असमर्थ हैं, वह दूसरेके लिये सामर्थ्यका उपाय करेगा—यह तो धोखा है, प्रवञ्चना है ।

ब्रह्मभूतो मुनिर्व्यासो मिथ्यामायोपदेशतः ।
कृतानेकपुराणोऽभूत्तस्यै मायै नमोऽस्तु ते ॥
वसिष्ठादिमुनिव्रातस्त्यागस्यैवोपदेशकृत् ।
स्वदमंगीकृतस्त्रीकस्तस्मै भोगाय ते नमः ॥
दासाः प्रेमातुरा भक्ति पुरुषार्थं वदन्त्यहो ।
सशरीरे गते चित्ते भक्ति प्रेम्णा समं गता ॥
योगः स्मार्तो वैष्णवश्च धर्मा भूपास्त्रयस्त्विमे ।
कर्मारिभ्यस्त्रिधावन्ति स्वात्मदेशं तु सुस्थितम् ॥

दष्णवो नृपतिर्धर्मः सत्यं प्रारब्धमात्मगम् ।
कर्मद्विषः समाश्रित्य पाति स्वं देशमात्मना ॥
स्मार्तस्तु नृपतिर्धर्मः सत्यं प्रारब्धमात्मगम् ।
कर्मारिभ्यो बलिं दत्वा पाति स्वं देशमात्मना ॥
योगधर्मो नृपः सर्वाञ्जित्वा कर्मद्विषो बली ।
मनश्च किंकरं कृत्वा पाति स्वं देशमात्मना ॥

मुनिवर व्यास ने भी जो ब्रह्मभावमें स्थित थे, मिथ्या मायाके उपदेशसे अनेकों पुराणोंकी रचना की, इसलिये माये ! तुम्हें नमस्कार है। वसिष्ठ आदि मुनियोंका समुदाय त्याग (वैराग्य) का ही उपदेश करनेवाला था, परन्तु स्वयं उन्होंने स्त्रियोंको स्वीकार कर गृहस्थाश्रम का वरण किया था, इसलिये उस (विषय) भोगको प्रणाम है। अहो ! प्रेमातुर भक्त पुरुषार्थके लिये भक्तिका वर्णन करते हैं, परन्तु शरीरसहित चित्तके चले जानेपर भक्ति भी प्रेमके साथ चली जाती है। योग, स्मार्त और वैष्णव--ये तीनों धर्म राजाके समान हैं, जो अपने स्थानपर बैठे हुए कर्मरूप शत्रुओंसे अपने आत्मारूप देशकी अलग-अलग तीन प्रकार से रक्षा करते हैं। वैष्णव-धर्मरूप नरेश आत्मगत सत्य प्रारब्धका आश्रय लेकर कर्मरूप शत्रुसे स्वयं अपने देशकी रक्षा करता है। स्मार्त-धर्मरूप राजा आत्मगत सत्य-प्रारब्धकी बलि देकर कर्म-शत्रुओंसे स्वयं अपने देशको बचाता है। योगधर्म रूप बलशाली राजा समस्त कर्म-शत्रुओंको जीतकर और मनको अपने वशमें कर स्वयं अपने देशका पालन (रक्षण) करता है।

एतद्ग्रन्थे बहुशास्त्राणां प्रामाण्यं दीयते तत्वस्मदीयार्थं वैतन्मार्गस्य शिष्याणां श्रद्धार्थं दीयत इति नास्ति। अस्मिन्नर्थे तु योगशास्त्रस्यैव प्रामाण्यमेतच्छास्त्रज्ञानेन पूर्णम्, परन्तु वादिनां हिताय भो अन्यग्रन्थान्तरेऽपि भवदीयनानामतान्तरेऽपि चायमेव मार्गः श्रेष्ठः सर्वस्य लक्ष्योऽवधूत एवेति हेतुर्न तु सिद्धान्तार्थः। अस्माकं त्वन्यप्रमाण उपेक्षेति ज्ञेयम्।

इस ग्रन्थमें जो बहुत-से शास्त्रोंके प्रमाण दिये गये हैं, वे हमारे लिए अथवा योगमार्गपर चलनेवाले शिष्यों की श्रद्धाको बढ़ानेके लिए दिय गये हैं-ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस प्रयोजन के लिए तो योगशास्त्र के ही प्रमाण इस शास्त्र-के ज्ञानसे परिपूर्ण हैं (यथेष्ट पर्याप्त हैं)। ये वादियों के हितके लिए (अध्ययन, मनन और विचार के लिए) दिए गये हैं। यथा अन्य ग्रन्थों तथा आपके ही अनेक

मतान्तरोंमें भी यही मार्ग श्रेष्ठ है तथा अवधूत (मार्ग) ही सबका लक्ष्य है- यह दिखलाना ही इसका कारण है, किन्तु यह सिद्धान्तके लिए नहीं है। हमलोगों की तो अन्य प्रमाणों के प्रति उपेक्षा –निरपेक्षता अथवा तटस्थता ही है–ऐसा समझना चाहिए।

गुरु-शिष्य के लक्षण और अवधूत-शिष्य की श्रेष्ठता

अवधूतशिष्यं विनेतरसम्प्रदायकशिष्या मुग्धा वर्त्तन्ते। अवधूतसंप्रदायस्येयं रीतिः-षट्त्रिंशल्लक्षणसम्पन्नो गुरुद्वात्रिंशल्लक्षणसम्पन्नः शिष्यस्वतश्चतुर्लक्षणन्यूनः। गुरुशिष्यलक्षणं चाधिकतत्त्वो गुरुन्यूनतत्त्वः शिष्यः। एतादृङ्न्यूनत्वं तु योग्यं न तु मूर्खशिष्योऽधिकलक्षणहीनो मोक्षभाग्भवेत्। पुराणो शौचक्रियादिकरणपर्यन्त क्रिया उपदिशतीति तन्महासिद्धा हसन्ति। अहो बुद्धिमन्तः शिष्यस्तान् गुरून् एतादृक्क्रिया अपि कथयन्ति। शिष्यस्य बुद्धेः परावधिरिति। एतादृशशिष्यकरणे गुरूणां दोषः प्रवर्तते। अतएव महासिद्धा बहून् दीक्षितान्न कुर्वन्ति। कथम्? बहवो विवेकिनो न भवन्ति। यतः स्त्रियां भ्रष्टायां पत्युर्लज्जा तथा शिष्ये भ्रष्टे गुरूणां लज्जा निन्दा पातकं च प्रवर्तते। अतएव बहुदीक्षिता आचार्या गुरवस्त्याज्याः, महासिद्ध एव गुरुः कर्तव्यः: महासिद्धैरपि चतुर्लक्षणन्यूनः शिष्यः कर्त्तव्यो बहवश्च शिष्या वर्जनीयाः, इति सिद्धान्तः।

अवधूत-शिष्यके अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायोंके शिष्य मूढ़(परमात्मतत्त्व की ज्ञानप्राप्तिमें असमर्थ) होते हैं, क्योंकि अवधूत-सम्प्रदाय की यह रीति है, इस सम्प्रदाय में छत्तीस लक्षणोंसे सम्पन्न गुरु और बत्तीस लक्षणोंसे युक्त शिष्य होता है अर्थात् शिष्य गुरुसे चार लक्षण कम होता है। निष्कर्ष रूपमें गुरु-शिष्य का लक्षण यह है कि अधिकतत्त्ववाला गुरु और न्यून तत्त्ववाला शिष्य होता है। किन्तु इसी प्रकारकी ही न्यूनता उपयुक्त है, क्योंकि अधिक लक्षणोंसे हीन मूर्ख शिष्य मोक्षभोगी नहीं होता। पुराणोंमें जो शौचादि-क्रियाओं के करने तककी क्रियाका उपदेश दिया गया है, उसका महासिद्धगण उपहास करते हैं–अहो! बुद्धिमान् शिष्य उन गुरुओंसे इस प्रकारकी क्रियाका भी वर्णन करते हैं! यह तो शिष्यकी बुद्धिकी अन्तिम सीमा है। ऐसा शिष्य बनानेमें गुरुओं को दोष लगता है। इसी कारण महासिद्ध लोग बहुतों को दीक्षित नहीं करते ; क्योंकि

अधिकतर लोग विवेकशील नहीं होते। इसलिए जिस तरह स्त्री के भ्रष्ट हो जाने पर पति को लज्जा होती है, उसी तरह शिष्य के भ्रष्ट हो जाने पर गुरुओं को लज्जा होती है, लोग उनकी निन्दा करते हैं और उन्हें पाप लगता है, अतएव बहुत–से शिष्यों वाले आचार्य गुरु त्याज्य हैं, केवल महासिद्ध को ही गुरु बनाना चाहिए। महासिद्धों को भी चार लक्षणों से न्यून साधक को शिष्य बनाना चाहिए, इसके अतिरिक्त बहुत-से शिष्यों को दीक्षित नहीं करना चाहिए। यही सिद्धान्त है।

अथ पुरुषस्य द्वात्रिंशल्लक्षणानि लिख्यन्ते। **प्रथमतो ज्ञानपरीक्षा** निरालम्बः १, निर्भ्रमः २, निवासी ३, निःशब्दः ४,। **विवेकपरीक्षा**- निर्मोहः ५, निर्बन्धः ६, निःशंकः ७, निर्विषः ८,। **विचारपरीक्षा**- सर्वांगी ९, सावधानः १०, सन् ११, सारग्राही १२। **निरालम्बपरीक्षा**- निष्प्रपञ्चः १३, निस्तरंगः १४, निर्द्वन्द्वः १५, निर्लेपः १६,। **संतोषपरीक्षा**- अयाचकः १७, अवाञ्छकः १८, अमानः १९, अस्थिरः २०।**शीलपरीक्षा**- शुचिः २१, संयमी २२, शान्तः २३, श्रोता २४। **सहजपरीक्षा**- सुहृत् २५, शीतलः २६, सुखदः २७, स्वभावः २८। **अष्टमे शून्यपरीक्षा**-लयः २९, लक्ष्यं ३०, ध्यानं ३१, समाधिः ३२। इति द्वात्रिंशल्लक्षणानि पुरुषस्य समाप्तानि। **पुनरपि पुरुषस्य चत्वारिलक्षणान्येतानि**- किमपि वस्तु नास्तीत्यनवरतबोधः ३३, एतानि लक्षणानि तदितराण्यलक्षणानि तेषामुभयेषामेकीकरण ३४, एतद्द्वयोरैक्यं यत्तत्तत्वमिति ३५, अतः परमप्यस्तीत्यनुभवः ३६।

अब पुरुष -शिष्यके बत्तीस लक्षणों का उल्लेख किया जाता है –पहले-पहल ज्ञान–परीक्षा- १ निरालम्ब (निराधार), २- निर्भ्रम (भ्रमरहित), ३- निवासी (वासस्थानरहित अथवा असंग);४- निःशब्द- (शब्दरहित)मौन। विवेक-परीक्षा ५- निर्मोह (संसार के असत् मायिक सम्बन्ध में अनासक्त), ६– निर्बन्ध- (स्वतन्त्र) जीवन्मुक्त ७- निःशंक ८- निर्विष (विषहीन) दान्त-शान्त। विचार-परीक्षा- ९-सर्वांगी (सम्पूर्ण अङ्गसे युक्त), अनिन्दक १०- सावधान (सचेत), ११–सत् (सदाचारी), १२– सारग्राही–(सारतत्व को ग्रहण करनेवाला) सत्यव्रती, निरालम्ब-

परीक्षा- १३– निष्प्रपञ्च (छलरहित), १४– निस्तरग (तरंगहीन), १५-निद्व न्द्व (स्वच्छन्द),-सम १६- निर्लेप (निर्लिप्त) । संतोष-परीक्षा–१७-अयाचक (संतुष्ट), १८- अवान्छक (निरीह), १९- अमान (निरभिमान) विनम्र २०- अस्थिर शील-परीक्षा-२१- शुचि (पवित्र) २२- संयमी–(आत्मनिग्रही) आत्मस्वरूप-में स्थित, २३- शान्त (क्षोभरहित), २४- श्रोता (शिक्षार्थी), श्रद्धावान् । सहज–परीक्षा-२५– सुहृत् (अच्छे हृदयवाला), २६- शीतल (उद्वेगरहित), २७– सुखद (सुख देने–वाला), २८-- स्वभाव (स्वस्थ), । आठवां शून्य-परीक्षा– २९ लय (मग्नता आत्मध्यान में लीनता), ३०- लक्ष्य (उद्देश्य), ३१– ध्यान (चिन्तन), ३२– समाधि । इस प्रकार पुरुष-शिष्य के बत्तीस लक्षण निरूपित हैं । इनके अतिरिक्त पुरुष–गुरु के चार लक्षण और हैं - ३३– कोई भी वस्तु (स्थायी) नही है-- ऐसा निरन्तर ज्ञान बना रहना, ३४-- ये लक्षण हैं और इनके अतिरिक्त अन्य अलक्षण हैं, उन दोनों का एकीकरण-द्वैताद्वैतविवर्जन भाव, ३५– इन दोनों की जो एकता है, वह तत्व है, ३६-- इसके पश्चात् भी कुछ है-- ऐसा अनुभव–सत्-असत्, भाव-अभाव से विलक्षण परमपद में संस्थिति ।

ॐकार-महिमा

अद्वैतोपरिवर्तिनाथ उदितो यत्र ध्वनिः संवतो
नाथो विन्दुरुतापि शक्तिरुदिता सा चार्द्धमात्रात्मिका ।
ऊरुद्रो हरिरो विधिर्मिति स मे ध्येयोऽस्तु नित्यं महा–
नोंकारोऽखिलशब्दबोजमबुधैरज्ञातरूपो मुदे ॥

जहाँ निरन्तर ॐकार (रूप) से अतीत सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनाहत सहज ध्वनि होती रहती है, वहाँ अद्वैत के परे परमपद में महानाथ विद्यमान रहते हैं । बिन्दु नाथस्वरूप है और शक्ति वह अर्धमात्रास्वरूपा है । उकार रुद्र, अकार विष्णु और मकार ब्रह्मा है । रुद्र, विष्णु, ब्रह्मात्रिदेवात्मक स्वरूप रूप दुर्ज्ञेय है और वह समस्त शब्दसमूहका बोजस्वरूप है, यह मुझे सच्चिदानन्द स्वरूप की अनुभूति में स्वस्थ कर दे ।

अयमोंकारो महासिद्धानां ध्येयस्तस्य स्वरूपम्— उकारोऽत्र रुद्रस्वरूपमर्द्धमात्रा शक्तिस्वरूपं बिन्दुर्नाथस्वरूपमर्द्धमात्रायां जातोऽकारो विष्णुस्वरूपं विन्दोर्जातो मकारो ब्रह्मस्वरूपं ध्वनिर्निराकारनाथस्वरूपं व्यापकं ध्वनिर्वर्णश्चोभयमपि मिलितं पूर्णं यद्-

द्वैताद्वैतविलक्षणं साकारनिराकारातीतमद्वैतोपरिवर्ति महानाथस्वरूप-मिति । किंचात्रौंकारे उकारोंबिन्द्वर्द्धमात्रयोर्योगादेव । बिन्दुयोगान्म कारोऽर्द्धमात्रायोगादकार इति । तथा चौंकारे नाथशिवक्तिरूपप्राबल्यं विष्णुब्रह्मस्वरूपयोरप्राबल्यमत एवात्रैतद्देवतात्रयध्यानं महासिद्धैर्मुख्यत्वेन क्रियते, पुनर्ध्वनिर्निराकारनाथरूपं ध्वनिवर्णश्चोभयात्मकः पूर्णनाथस्तु साम्प्रतमस्ति तथास्त्येवेति ब्रह्मविष्णुध्यानतो नाथशिवशक्तीनां ध्यानमुत्तम-मुक्तं तत्रापि नाथध्यानं बलिष्ठम् । उकारो यद्योंकारः स्यात्तदा मात्रा-शक्त्यैव । उकारोऽपि यद्योंकारः स्यात्तर्हि बिन्दुशक्त्यैव, बिन्दुश्च यद्यपि वर्णस्तथापि तत्र स्वरस्याधिक्यम्, स्वरश्च वर्णापेक्षया बलवानेव । कथम् ? तत्र ध्वनिभागस्याधिक्यात्, ध्वनिश्च नाथरूपमेवातो नाथध्यानं बलिष्ठमित्युक्तम् । तदुक्त योगशास्त्रे—

यह ॐकार महासिद्धोंके लिये ध्येय है; उसका स्वरूप इस प्रकार है—ॐकारमें उकार रुद्रस्वरूप, अर्धमात्रा शक्तिस्वरूप, बिन्दु नाथस्वरूप, अर्धमात्रासे उत्पन्न अकार विष्णुस्वरूप, बिन्दुसे उत्पन्न मकार ब्रह्मास्वरूप और ध्वनिव्यापक निराकार नाथस्वरूप है । ध्वनि और वर्ण—इन दोनोंके मेलसे जो पूर्णरूप बनता है, वह द्वैत और अद्वैतसे विलक्षण (अतीत) साकार और निराकारसे परे एवं अद्वैतसे अतीत महानाथस्वरूप है । इस ॐकारमें उकार बिन्दु और अर्धमात्रा—इन दोनोंके योगसे ही है तथा बिन्दुके योगसे मकार और अर्धमात्राके योगसे अकार उत्पन्न हैं । इसीलिये ॐकारमें नाथ, शिव और शक्तिके रूपकी प्रबलता शक्तिमत्ता-सत्ता तथा ब्रह्मा और विष्णुके स्वरूपकी शक्ति-न्यूनता है । इसी कारण महासिद्ध ॐकारमें इन तीनों देवताओंका ध्यान मुख्यरूपसे करते हैं । पुनः ध्वनि निराकार-नाथस्वरूप है तथा ध्वनि और वर्ण—इन दोनोंका सम्मिलित रूप ही पूर्णनाथ हैं, सदैव ही विद्यमान हैं । वैसा है, इसीलिये ब्रह्मा और विष्णुके ध्यानसे नाथ, शिव शक्तिका ध्यान उत्तम कहा गया है । उनमें भी नाथका ध्यान सबसे प्रबल अधिक फलदायक है । यदि उकार ओंकार है तो मात्राकी शक्तिसे ही । यदि उकार भी ॐकार है तो बिन्दु-शक्तिसे ही । यद्यपि बिन्दु वर्ण है तथापि उसमें स्वरकी अधिकता है और स्वर वर्णकी अपेक्षा बली ही होता है; क्योंकि उसमें ध्वनिभाग-की अधिकता होती है और ध्वनि नाथरूप ही है, इसीलिये नाथके ध्यानको बलिष्ठ (प्रबल) कहा गया है । ऐसा योगशास्त्रमें निरूपित है ।

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ।
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्त्वा रुद्रग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ॥

रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा छित्त्वा मोहमयीं लताम् ।
उद्घाटयत्ययं वायुं ब्रह्मद्वारं सुगोपितम् ॥ इति ॥

यह (नाथका ध्यान) ब्रह्मग्रन्थिका, जो मणिपूर चक्र में स्थित कहा गया है भेदन करके (हृदयस्थित अथवा विशुद्ध चक्रमें स्थित) विणुग्रन्थिको विदीर्ण करता है। उसके बाद विष्णुग्रन्थिको विदीर्ण करके भौंहों के मध्यमें स्थित रुद्रग्रन्थिका भेदन करता है। उसके बाद रुद्रग्रन्थिका भेदन करके और मोहमयी लता (अज्ञानवृत्ति) को काटकर यह ब्रह्मरन्ध्रमें गुप्त रूपसे स्थित प्राणवायुको उद्घाटित करता है—प्राणवायु का संचार करता है ।

योगसम्प्रदाय में शिष्यकी विशेषता

योगसम्प्रदायं बिना सर्वमते विपरीता वार्ता वर्त्तते । कथम् ? नथांशो नादो नादांशः शक्त्यंशो बिन्दुर्बिन्दोरंशः शरीरम् । एवं च योगसम्प्रदाये शिष्योऽधिको यो नादाज्जायते अन्यमते पुत्रोऽधिकः कथ्यते स चाधिकःकथ भवेत् । कथं वपुर्बिन्दुतो जातम् पुनः पुनर्नादांशः प्राणउक्तो बिन्द्वंशः शरीरमुक्तम् । तत्रापि प्राणाच्छरीरमुत्तिष्ठति शरीरस्याधारः प्राणो भवति । तथा च नादस्यात्मजः शिष्य एवाधिक इति ।

योगसम्प्रदायके अतिरिक्त अन्य सभी सम्प्रदायोंके मतमें यह बात विपरीत होती है। कैसे ? यथा–नाथका अंश नाद है, नादका अंश प्राण है, शक्तिका अंश बिन्दु है और बिन्दुका अंश शरीर है; इसी प्रकार योगसम्प्रदायमें जो नादसे उत्पन्न होता है, वह शिष्य श्रेष्ठ माना जाता हैं, किंतु अन्यान्य मतोंमें पुत्रको श्रेष्ठ कहा जाता है। वह किस तरह श्रेष्ठ हो सकता है; क्योंकि शरीर बिन्दुसे उत्पन्न होता है और प्राणको बार-बार नादका अंश कहा गया है और शरीरको बिन्दुका अंश बतलाया गया है। उसमें भी प्राणसे शरीर उत्पन्न होता है, इसलिये शरीरका आधार प्राण होता है; इसलिये नादसे उत्पन्न हुआ शिष्य ही श्रेष्ठ है ।

अन्यच्च कथ्यते—

जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥
राजपत्नी गुरोः पत्नी मित्रपत्नी तथैव च ।
पत्नीमाता स्वमाता च पञ्चैता मातरः स्मृताः ॥

जन्मदाता, उपनयन-संस्कारसम्पन्न करानेवाला आचार्य, विद्या पढ़ानेवाला गुरु, अन्नदाता और अभय देनेवाला—ये पाँच पिता कहे गये हैं तथा राजपत्नी, गुरु-पत्नी, मित्र-पत्नी, अपनी पत्नीकी माता अर्थात् सास और अपनी माता—ये पाँच माताएँ मानी गयी हैं।

इत्येतत्कथने प्राधान्यं पित्रोरेवायाति तत्समीचीनं न भवति। इयं तु रीतिः सांसारिको न तु पारमार्थिकी वार्ता। अतः कारणाद् गुरुरेव मुख्यो नादात्मजः शिष्य एव मुख्य इति सिद्धान्तः।

इस कथनमें पिताको ही प्रधानता—विशेषता प्रकट होती है, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह तो सांसारिक रीति (रिवाज) है, पारमार्थिक रीति नहीं है। इस कारण (पिताकी अपेक्षा) गुरु ही मुख्य है और (पुत्रकी अपेक्षा) नादसे उत्पन्न शिष्य ही विशिष्ट है—यही सिद्धान्त है।

वर्णाश्रम पदार्थ तत्त्वरस देवादिक योगसम्मत अनुक्रम

किं च धर्मोऽर्थः कामो मोक्ष इति, ब्रह्मचर्यं गार्हस्थ्यं वानप्रस्थं संन्यास इति, शृङ्गारो हास्यं करुणा रौद्रो वीरो बीभत्सो भयानकोऽद्भुतं शान्त इति, पृथ्वी आपस्तेजो वायुराकाश इति, ब्रह्माविष्णुरुद्रादिश्च। एतत्प्रक्रियायामनुक्रमो नास्ति, किंतु व्यतिक्रमो वर्तते। किंत्वनुक्रमस्त्वेवरीत्या मोक्षो धर्मोऽर्थः कामः, संन्यासो ब्रह्मचर्यं वानप्रस्थं गार्हस्थ्यम्, शान्तं करुणाद्भुतं वीरो रौद्रो हास्यं भयानको बीभत्सः शृङ्गारः, आकाशो वायुस्तेजो जलं पृथ्वीति। कथम्? आकाशाज्जायते वायुर्वायोस्तेजस्तेजसो जलं जलात् पृथ्वी। पुनः शिवाद्भैरवो भैरवाच्छ्रीकण्ठः श्रीकण्ठात् सदाशिवः सदाशिवादीश्वर ईश्वराद्रुद्रो रुद्राद्विष्णुर्विष्णोर्ब्रह्मा इतीयं योगसम्प्रदायरीतिः सैव तान्त्रिकी। परतु शिवभैरवश्रीकण्ठेति देवत्रयक्रमः सूत्रे न गृहीतः। पञ्चैव देवताः सदाशिवादयो गृहीतास्तत्रापि पौराणिके वैदिके देवतात्रयमेव गृहीतम्, तत्कथ्यते—ब्रह्मा विष्णू रुद्र इति पुराणप्रक्रिया। ब्रह्मा विष्णू रुद्र ईश्वरः सदाशिव एषा तान्त्रिकी प्रक्रिया। अवधूतैः कथ्यते-एषा प्रक्रिया कुत आगता? सर्वा योगादेवागताः। यतः सर्वस्य कारणं योग एव प्रवर्तते। यतोऽवधूताद्भिक्षुको जातो भिक्षुकाद् ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणो गृहस्थो जातः। कथम्? एकैकगुणलक्षणहीनो ह्रासक्रमेण सम्भूतः

संतानमेवत्ति मन्यते। प्रथमतो गौणमुख्यप्रक्रिया कथिता। तत्र काचिदुत्पत्तिक्रमतो मुख्या गौणी वा ज्ञेया, काचिच्चफलवृक्षरीत्या मुख्या गौणी वेति ज्ञेयम्।

(दूसरे-दूसरे मतोंके अनुसार कही गयी) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास, शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स, भयानक, अद्भुत, शान्त, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि—इस प्रक्रियामें अनुक्रम नहीं है, अपितु व्यतिक्रम है। अनुक्रम इस प्रकार होना चाहिए—मोक्ष, धर्म, अर्थ, काम, संन्यास, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, गार्हस्थ्य, शान्त, करुण, अद्भुत, वीर, रौद्र, हास्य, भयानक, वीभत्स, शृंगार, आकाश, वायु, तेज, जल पृथ्वी, क्योंकि आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति होती है। पुनः शिवसे भैरव, भैरव से श्रीकण्ठ, श्रीकण्ठसे सदाशिव, सदाशिवसे ईश्वर, ईश्वरसे रुद्र, रुद्रसे विष्णु और विष्णुसे ब्रह्मा—इस प्रकार यह योगसम्प्रदायकी रीति है और यह तान्त्रिकी है। परन्तु शिव, भैरव और श्रीकण्ठ, इन तीन देवताओंका क्रम सूत्रमें नहीं ग्रहण किया गया है। सदाशिव आदि पाँच देवता ही लिये गये हैं। उनमें भी पौराणिकों और वैदिकोंके मतमें तीन देवता ही स्वीकृत हैं। उस मत को बतलाते हैं—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, यह पुराणप्रक्रिया है तथा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव—यह तान्त्रिकी प्रक्रिया है। अवधूत तो कहते हैं कि यह प्रक्रिया कहाँसे आ गयी? सभी प्रक्रियाएँ तो योगसे आयी हैं, क्योंकि सबका कारण योग ही है। जिस तरह अवधूतसे भिक्षुक उत्पन्न हुआ, पुनः भिक्षुकसे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारीसे गृहस्थकी उत्पत्ति है, क्योंकि ह्रासक्रम से एक—एक गुण और लक्षण से हीन उत्पन्न संतान ही माना जाता है। गौण और मुख्य प्रक्रिया तो पहले ही कह दी गयी। उसमें कुछको उत्पत्तिक्रमसे मुख्य अथवा गौण जानना चाहिए तथा कुछको फल और वृक्ष की रीति से मुख्य या गौण समझना चाहिए।

भर्तृहरि और नागेशका एक-दूसरेको शाप

एकदा श्रीमहासिद्धविचारनाथेन भर्तृहरिनृपेण व्याकरणशास्त्रोपरि लक्षसंख्याकाः कारिकाः कृताः। नागेशेन ताः श्रुताः, तदा प्रसन्नो भूत्वा ब्रह्माण्डे विहरन् समागतो यस्तत्र स्थितो महावधूत आगत्य चादेशादिव्यवहारकरणानन्तरं तेनोक्तम्—हे स्वामिन्नहं तुष्टोऽस्मि यतः काचिद्याचनां कुरु, तदा महासिद्धेनोक्तं तव मिलने सुखं जातमन्यत्तु नास्त्यपेक्ष्यं कृत-

कृत्य एवास्मि, पुनः पुनस्तेन शेषेणोक्तं याचनीयमेवेति । तदा भर्तृहरिणोक्तं किं याचे यदैश्वर्येच्छा भवेतत्तु महाराज्यं त्यक्त्वावधूतो जातः । पुनर्मोक्षस्य यदि वाञ्छा भवेत्, सा तु अवधूतभावे सिद्ध्यत्येव संशयो नास्तीति । तदा शेषोऽसंतुष्टो भूत्वा ममापमानः कृतो यतः शापं ददामि, भवदीयकारिकाः प्रसिद्धा न भविष्यन्तीति । तदावधूतेनाप्युक्तं त्वदीयकृतव्याकरण-शास्त्रं कलौ वृत्यर्थं भविष्यति पुनर्यत्र कुत्रापि स्थले ससंशयं भविष्यति तदा :कर्मकारिकां विना निर्णयो न भविष्यतीति । एवं परस्परं शापो जातस्तेनाधुनिकसमये व्याकरणादिसाधनशास्त्रं परमार्थे न्यूनं भवति चातुर्यादिप्रकारं प्रायशो भवतीति ।

एक समयकी बात है, महाराज भर्तृहरिने, जो महासिद्ध श्रीविचारनाथके नामसे प्रसिद्ध हैं, व्याकरणशास्त्रपर एक लाख कारिकाओंकी रचना की । नागेशने उन्हें सुना, तब वे प्रसन्न होकर ब्रह्माण्डमें विचरण करते हुए वहाँ आये, जहाँ वे महान् अवधूत भर्तृहरि विराजमान थे । वहाँ आकर आदेश आदि (पारस्परिक) व्यवहारके पश्चात् उन्होंने कहा—हे स्वामी ! मैं प्रसन्न हूँ, इसलिए कोई वरदान माँगिए । तब महासिद्ध भर्तृहरि ने कहा—तुम्हारे मिलनेसे मुझे सुख प्राप्त हुआ है । मुझे किसी अन्य वस्तुकी अपेक्षा(चाह)नहीं है, मैं तो स्वय ही कृतकृत्य हूँ । जब शेषावतार नागेशने बारबार कहा कि कुछ (वरदान) माँगना ही चाहिए, तब भर्तृहरिने उत्तर दिया—'क्या माँगू , यदि ऐश्वर्यकी इच्छा हो तो महाराज्यका (वैराग्यका) त्याग करके मैं अवधूत हो गया । पुनः यदि मोक्षकी प्राप्ति की कामना हो तो वह अवधूत-भावमें सिद्ध (फलवती) ही हो जायगी—इसमें कोई संशय ही नहीं है ।' तब शेष—नागेश अप्रसन्न हो गये और इन्होंने मेरा अपमान किया है, इसलिये 'शाप दूँगा' ऐसा कहते हुए बोले—'आपकी कारिकाएँ प्रसिद्ध नहीं होंगी ।' तब अवधूत भर्तृहरिने भी शाप देते हुए कहा—'तुम्हारे द्वारा रचा गया व्याकरणशास्त्र कलियुगमें वृत्तिके लिये ही होगा । फिर भी जहाँ किसी स्थलपर संशय उत्पन्न होगा (उस सन्दर्भमें) मेरी कारिकाओंके बिना निर्णय नहीं हो सकेगा ।' इस प्रकार परस्पर दोनों शाप-ग्रस्त हो गये । इस कारण आधुनिक समयमें व्याकरणादि साधनशास्त्र परमार्थमें न्यून (अक्षम) ही हैं, वह प्रायः निपुणता आदि भेदोंको ही प्रकट करता है ।

सिद्धोंकी (विचारपूर्वक) आचार-विधि

आचार-आचार इति वदन्ति । य आचारोऽत्याचारः सन् कथं निर्वहति ? भोजने यद्घृतं तत्तु चर्मपात्रेणैवायाति, गमने यत्पादत्राणं

तदपि चर्मजमेव स्पृश्यते, शयनेस्त्रीसंगो भवति तस्य कथैव का। प्रातः काले यद्यपि शुद्ध्यर्थं स्नानं क्रियते तथापि चतुर्षु प्रहरेषु करादिकस्य मुखादिस्पर्शनं स्वभावत एव सर्वदा जायते। किं च सूर्यादिग्रहणे मृत्तिका पात्राणि जलं चाशुचित्वेन त्यज्यते न तु धान्यघृतादिकं वस्तु। तदा एवं ज्ञायते जलाशये जलं बहु लभ्यते कुलालानां गृहेषु मृत्पात्राणि चाल्पव्ययेन लभ्यन्ते, तेन तदशुचित्वं कथं न क्रियते। घृतधान्यादिनिवारणे तु बहु-द्रव्यव्ययो भवेदित्याद्यनेकप्रकारकं किं किं लिख्यते। तस्मादाचारवस्तु कल्पितमेव तद् बुद्धिमन्तो जना न किंचिदपि वस्तु जानन्ति। विचार एव मुख्य इति सिद्धान्तः। तत्र चैवं न ज्ञेयमत्र सिद्धान्त आचारो नास्तीति। कथम्? आचारोऽस्माकं मते वर्त्तते, स च विचारपूर्वकइति। अन्य आचारं कुर्वन्ति तादृशस्तु क्रियत एव। नास्ति. यथायोग्यस्तु क्रियते च स चापि गौणं मत्वा क्रियते मुख्यस्तु तत्वविचार इति कृत्वायमपि व्यवहारः सर्वथा त्याज्यो नास्तीति।

लोग आचार-आचार-ऐसा कहते रहते हैं, किंतु जो आचार है, वह यदि (मर्यादाहीन) अत्याचार-सा हो गया, तो उसका निर्वाह किस तरह हो सकता है? भोजनमें पड़नेवाला जो घी है, वह चमड़ेके पात्रसे ही आता है, यात्राके समय जो पैरोंका रक्षक जूता है, वह भी चमड़ेका ही है और उसका स्पर्श किया जाता है, शयनकालमें स्त्रीके संगका कहना ही क्या है? प्रातःकाल शुद्धिके लिये यद्यपि स्नान किया जाता है, तथापि दिनके चारों प्रहरोंमें हाथ आदिका मुख आदिके साथ स्पर्श सर्वदा स्वभावतः ही होता रहता है, तथा सूर्य और चन्द्रमाके ग्रहण के समय मिट्टी के बर्तन और जल अपवित्र हो जानेके कारण फेंक दिये जाते हैं, किन्तु धान्य और घृत आदि वस्तुओंका त्याग नहीं होता। उस विषयमें ऐसा ज्ञात होता है कि जलाशयमें जल बहुतायतसे प्राप्त हो जाता है और कुम्हारों के घर मिट्टीके बर्तन थोड़े ही दाममें उपलब्ध हो जाते हैं, इसलिए उन्हें अपवित्र क्यों न कर दिया जाय (उन्हें अपवित्र कह कर त्याग दिया जाता है), परन्तु घृत और धान्य आदिके फेंक देनेपर बहुत से द्रव्य का व्यय होगा (इसलिये उन्हें अपवित्र नहीं माना जाता)। ऐसे अनेकों प्रकारके आचार होते हैं, उनमें किन-किन का उल्लेख किया जाय। इस कारण आचार —वस्तु कल्पित ही है, बुद्धिमान् मनुष्य अन्य किसी भी वस्तुको नहीं जानते। अतः विचार ही मुख्य है—यही सिद्धान्त है। इसमें भी ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इस सिद्धान्तमें आचार नहीं है, क्योंकि हमारे मतमें भी आचार वर्तमान है, परन्तु यह विचारपूर्वक है। अन्यलोग

जो आचार करते हैं, वे वैसा करते ही हैं, ऐसी बात नहीं है, किन्तु योग्यतानुसार करते हैं और उसे भी गौण मानकर करते हैं, मुख्य तो तत्वविचार ही है। ऐसा करनेपर यह व्यवहार भी सर्वथा त्याज्य नही है।

आचार-विधि

प्रातरुत्थाय गुरुस्मरणं कृत्वा अकालं स्मृत्वा शौचादिक्रियां दन्तधावनं स्नानं च कृत्वा नाथालये गत्वा पूजा कर्तव्या, पूजानन्तरं भोजनं कर्तव्यं सायंकाले च हस्तादिकं प्रक्षाल्य सायंकालोचितरीत्या पूजा कर्तव्या। शौचं चैकादशवारं मृत्तिकाजलेन हस्तप्रक्षालनं स्नानं चैककुम्भजलेन द्विकुम्भजलेन वा, एष आचार इतरस्त्वत्याचारो निषेध एव। किमर्थं वृथाकार्ये गौणकार्ये समयनयनं क्रियते, तेन च मुख्यकार्यानवसरो भवेत्, खेदेन च प्राणहरणं भवेत्। प्राणरक्षांविना मनः स्थिरं न भवेत्, मनः स्थैर्यं विना कदापि काले मोक्षो न भवेत्। अतः कारणान्महासिद्धा योग एव तिष्ठन्ति, नत्ववास्तविके भ्रमन्तीति।

सवेरे-सबेरे बिस्तरेसे उठकर गुरुका ध्यान करके अकाल(अलख निरञ्जन परमेश्वर) का स्मरण (ध्यान) करना चाहिये। इसके बाद शौचादि क्रिया (से निवृत्त होकर), दन्तधावन और स्नान करके श्रीनाथजीके मन्दिरमें जाकर पूजा करनी चाहिए। पूजाके बाद भोजन करनेका विधान है। सायंकाल भी हाथ-पैर आदि धोकर सायं पूजा-विधिके अनुसार पूजा करनी चाहिए। शौचादिसे निवृत होकर ग्यारह बार मिट्टी और जलसे हाथोंको धोना, एक घड़े अथवा दो घड़े जलसे स्नान करना ही आचार है, इसके अतिरिक्त जो कुछ भी किया जाता है, अत्याचार है; जिसका (सर्वथा) निषेध ही है। इस तरह गौण कार्य अथवा व्यर्थ के कामोंमें किस लिये समयका दुरुपयोग किया जाता है,ऐसा करनेसे तो मुख्य कार्यके लिये अवसर ही नहीं मिलता, जिससे खेदपूर्वक प्राणान्त तक हो जाता है, मरण हो जाता है। प्राणकी रक्षा के बिना मन स्थिर नहीं होता और मनकी स्थिरता के बिना किसी भी समय-मोक्ष–प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसी कारण महा-सिद्ध योगाभ्यासमें ही स्थित रहते हैं। वे वास्तविकतारहित वस्तु(दिखावे और आडम्बर) के पीछे नहीं पड़ते।

प्रारब्धका खण्डन तथा आचारकी अपेक्षा विचारकी प्रधानता

यदा प्रारब्ध कर्म मन्यत एव तदा शंकरस्य मण्डनमिश्रेण जाते विवादे शंकरेण यत्नः किमर्थं कृतः। प्रारब्धकर्मणा किमपि भविष्यति तत्तु

विनापि यत्नेन भविष्यतीति ।पुनर्न भविष्यति तदापि किम्? ये तु प्रारब्ध-भोगोऽवस्य इति सिद्धान्विनस्तेषां न भवनेनापि किं यत्प्रारब्धं तत्सिद्धान्तः श्रद्धयैव निश्चिततया ग्रहणीयः। किमर्थं यत्ने प्रयासः, परन्तु यत्र स्थले प्रारब्धस्याङ्गीकाराद्द्रुतमेव पराजयो भवेत्तदा योगशक्तिमेव गृहीत्वा राज्ञः शरीरे जीवप्रवेशकरणादिकर्तामित्यादि बहुधा प्रसिद्धमेव यतो योगाश्रयेणैव विजयो जातः। पुनर्न्यासिनां मते श्रृङ्गारो वर्जित इति यत्तत्सत्यं कथं जातं शरीरमन्यस्य परन्तु जीवस्तु स्वयमेव ततोऽपि योगिनां सिद्धान्त एव निश्चलो भवतीति। तदुक्तं सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

"क्वचिद्भोगी क्वचित्त्यागी" इति।

जब प्रारब्ध -कर्मको ही मानते हो, तब शंकरका मण्डन मिश्रके साथ विवाद छिड़ जानेपर शंकरने (उन्हें पराजित करनेके लिए) क्यों प्रत्यम किया ? प्रारब्ध कर्मद्वारा जो कुछ होनेवाला था, वह तो बिना यत्न के भी हो जाता। फिर न भी होता तो क्या हानि होती ?जो लोग प्रारब्धका भोग अवश्य होता है-इसतरहसिद्धान्त वाले हैं, उनके लिए न होनेसे भी क्या हानि, क्योंकि जो प्रारब्ध है, वही सिद्धान्त है और उसे ही श्रद्धापूर्वक निश्चितरूपसे ग्रहण करना चाहिए। यत्न करनेमें प्रयास (श्रम) क्यों किया जाय, परन्तु जिस स्थानपर प्रारब्धके अंगीकार करनेसे तुरंत ही पराजयकी सम्भावना हो, वहाँ योगशक्तिको ही ग्रहण करना चाहिए, ऐसा करके ही राजाके शरीरमें जीवके प्रवेश करानेका कर्म किया गया,-ऐसे बहुत-से कर्म बहुधा प्रसिद्ध ही हैं। इससे योगका आश्रय लेनेसे ही विजय मिली। फिर संन्यासियोंके मतमें जो श्रृङ्गार कोवर्जित माना गया है,वह सत्य किस तरह है,क्यों -कि शरीर अन्यसे उत्पन्न होता है और जीव स्वयं ही है (परमात्मसत्ता में स्वस्थ है), इससे भी योगियोंका सिद्धान्त ही निश्चल होता है,इसीलिये सिद्धसिद्धान्तपद्धति-में कहा गया है—"अवधूत कहीं भोगी और कहीं त्यागी का-सा आचरण करता है।"

नाथसूत्रमें—

आचारे ब्रह्म विचारे योगीति। ब्राह्मण आगत्याचारं प्रवर्त्तितवान्। योगी चागत्य विचारं प्रवर्तितवान्। यावद् ब्राह्मण आचाराद्विचारं प्राप्त-स्तावद्योगी ब्रह्मप्राप्त इति। अन्ये साम्प्रदायिका आचार्या अधिकारिभेदेन

सर्वस्यापि समाधानं कुर्वन्ति, तत्तु महासिद्धानां मते सर्वथा बाधकमेव। कथम् ? अधिकारिभेदेन सर्वस्य धर्मं इति। कथयिष्यन्ति, तदा यवनादीनामन्त्यजानामपि तु तेषां धर्मं एवेति। तथा चानर्थं एव स्याद्यतो धर्मस्तु मुमुक्षुपुरुषाणामेवान्येषां तु सर्वेषामधर्म एव। मुमुक्षवश्च योगाधिकारिण एव। योगभोगो द्वौ पदार्थौ, तत्र मुक्तये योगाधिकारी, अन्ये वर्णाश्रम-वैष्णवबौद्धा इत्यादयः सर्वे व्यवहारिण एवेति। कुत्रचित्स्थले केऽपि जनाः स्थितास्तेषु केनचित् पापस्य वार्ता उक्ता सा वार्ता द्वितीयेनाभिनन्दिता,तदा तत्पापमुक्तं कृत तु प्रथमेणैव परन्त्वभिनन्दकत्वात्फलभागी तु द्वितीयो जात एव किं किं वा नेति। तत्त्वितरशास्त्रेऽपि उपदेष्टानुमन्ता च साक्षात्कर्त्ता भिनन्दिता। चत्वारः फलभागिनः इति लिखितमेव। तथाचैक उपदेष्टापरः कर्त्ता, एवंरीत्या चाधिकारिभेदेन समाधानमसमीचीनमिति प्रतिभाति।

आचार-पालनमें ब्राह्मण और विचार (स्वरूप-चिन्तन) में योगीकी प्रधानता है। ब्राह्मणने आकर आचारका प्रवर्तन किया तथा योगीने आकर विचार-को महत्व दिया। जबतक ब्राह्मण आचारका पालन करते-करते विचारको प्राप्त हुआ, स्वरूप-चिन्तनमें तत्पर हुआ, तबतक योगी ब्रह्मको प्राप्त हो गया। अन्य साम्प्रदायिक आचार्य अधिकारी-भेदसे जो सभीका समाधान करते हैं, वह महा-सिद्धोंके मतमें सर्वथा बाधक ही हैं; क्योंकि जब वे ऐसा कहेंगे कि अधिकारी-भेदसे यह सबका धर्म है, उस समय यवनादिकों तथा अन्त्यजोंका धर्म उन्हींका धर्म हो जायेगा और ऐसा होनेपर अनर्थ हो जायेगा; क्योंकि वह धर्म तो मुमुक्षु पुरुषोंका ही है, अन्य सभीके लिये तो वह अधर्म ही है। योगाधिकारी ही मुमुक्षु पुरुष है। योग और भोग--दो पदार्थ हैं, उनमें योगाधिकारी मुक्तिके लिये प्रयत्न करता है तथा अन्य वर्णाश्रमी, वैष्णव, बौद्ध आदि सभी व्यवहार में ही तत्पर रहते हैं। किसी स्थानपर कुछ लोग एकत्र बैठे हुए थे। उनमेंसे किसीने पापकी वार्ता चलायी। किसी दूसरेने उस वार्ताका अभिनन्दन किया। उस समय उस कहे हुए पापको किया तो पहलेने ही, परन्तु प्रशंसक होनेके कारण दूसरा भी फलभागी हो हो गया। अथवा क्या-क्या नहीं हुआ अर्थात् सब कुछका भागी हो गया। इसका अन्य शास्त्रमें भी—'उपदेशक, अनुमतिदाता साक्षात् कार्यकर्ता और प्रशंसक--ये चारों ही फलभागी होते हैं–उल्लेख मिलता है। इसलिये एक उपदेष्टा है तो दूसरा कर्ता'—इस प्रकार अधिकारी–भेदसे समाधान करना ठीक नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है।

कृतयुगे केवलं प्रणवगायत्री योगानुसारिसाधनेन जावा मुक्तिं प्राप्ताः पश्चादन्ययुगे सर्वेऽपि यद्येतद्धर्मं वहेयुस्तदा मुक्ता एव स्युस्तर्हि कथं संसारप्रवृत्तिर्भवेदिति नाथेच्छया ब्रह्मणा वेदादिशास्त्राणि प्रकटितानि। तेन स्वस्वरूपात्परावृत्तिः कृता येन च प्रणवयोगेन स्वरूपानुभवः प्रकटितः सोऽप्रकटः कृतः। अध्यारोपापवादादिप्रकारेण यदामायिकवस्तु तत्र मिथ्या-कल्पना बहुविधानेन कृता, मिथ्यैवाश्वो मिथ्यैव वाशववारो मिथ्यैव धावन-मिति किं प्रलप्यते। पङ्के हस्तनिमज्जनकरणानन्तरं पुनः प्रक्षाल्यते तवस्तु प्रथमं तत्र हस्तनिमज्जनमेव किमर्थमिति योगिनां सिद्धान्तो विस्मृत एव। एकदेवस्तुतावन्यदेवनिन्दा एकनिन्दायां चान्यदेवस्तुतिरित्यनया रीत्या धर्मोऽपि प्रवर्तितः। स चान्योन्यविरुद्धस्तेन सर्वे जीवा भ्रमन्तः सन्तो बन्धकारका भवन्ति। तदुक्तं नाथसूत्रे—ब्राह्मणे वेदाः प्रवृत्ताः, न्यासिनि तीर्थानि प्रवृत्तानि न कोऽपि निर्वाणभावं प्राप्त इति। कथं सूक्ष्मप्राप्त्यर्थं त्वेका-क्षरः प्रणवः सूक्ष्मवेद एव कृतः पुनः सूक्ष्मैवाक्षरद्वयात्मिका गायत्री कृता। पुनः साकारः सन्नपि साकारत्वाभिमानराहित्येन निराकारतुल्यमेव सूक्ष्मं नाथरूपं कृतवान्। तेनोपदेशः सूक्ष्म एव योगाभ्यासयोगः कृतः। तदुद्धा-रकः सूक्ष्म एवावधूतः कृताः अथमायाशबलस्थूलब्रह्मप्राप्त्यर्थमेकाक्षराद्वेदा-नेकाक्षराः स्थूला वेदा कृताः अक्षरद्वयात्मिकागात्र्याश्चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री कृता। योगात् स्मृतिपुराणादीन्यनेकशास्त्राणि कृतानि, तदुद्धारका ब्राह्मणाः परमहंसादय इतर संसारिणोऽपि कृताः।

कृतयुग (सत्ययुग) में केवल प्रणवगायत्री (की ही उपासना) थी और योगविहित साधनद्वारा जीव मुक्तिको प्राप्त हो जाते थे। इसके बाद दूसरे युगोंमें यदि सभी इस धर्मका पालन करेंगे तो सभी मुक्त हो जायँगे, फिर संसारकी प्रगति किस तरह होगी, इसके निर्वाहके लिये नाथकी इच्छासे ब्रह्माने वेद आदि शास्त्रोंको प्रकट किया। फिर उन्होंने अपने स्वरूपसे प्रत्यावर्तन किया, जिससे प्रणवके योगसे स्वरूपका अनुभव प्रकट किया, परन्तु उसे गुप्त ही रखा। पुनः अध्यारोप और अपवाद आदिके भेदसे जो वस्तु मायारहित थी, उसमें अनेकों प्रकारकी मिथ्या कल्पना की। यथा—अश्व भी मिथ्या है, असवार भी मिथ्या है और उसका दौड़ना भी मिथ्या है। इस प्रकार क्या प्रलाप करते हो। कीचड़में हाथ डालनेके बाद फिर उसे धोते हैं, इससे अच्छा तो यही है कि पहले कीचड़में हाथ डाला ही क्यों जाय? योगियोंका इस तरहका सिद्धान्त उन्होंने भुला हीं दिया। एक देवताकी स्तुतिमें

अन्य देवताकी निन्दा तथा एक देवकी निन्दा करनेमें अन्य देवकी स्तुति होती है, इसी रीतिसे उन्होंने धर्मका भी प्रचार किया। वह धर्म परस्परविरुद्ध है। इसी कारण सभी जीव भ्रमित होकर बन्धनके भागी होते हैं। ऐसा नाथ-सूत्रमें कहा गया है—वेद ब्राह्मणमें प्रवृत्त हुए और तीर्थ संन्यासियोंमें प्रवृत्त हुए, परन्तु कोई भी (निर्वाण अथवा शिवैक्य) मोक्षको नहीं प्राप्त हो सका तो सूक्ष्म (स्वरूप) की प्राप्ति किस तरह हो ? इसके लिये उन्होंने एकाक्षर प्रणवरूप सूक्ष्मवेदको प्रकट किया। फिर दो ही अक्षरोंवाली सूक्ष्म गायत्रीको बनाया। पुनः साकार होते हुए भी साकारत्वके अभिमानसे रहित निराकार-तुल्य ही सूक्ष्म नाथरूप प्रकट किया। उन्होंने योगाभ्यासरूप सूक्ष्म उपदेश भी दिया। सूक्ष्म अवधूतको उसका उद्धार करनेवाला बनाया। तदनन्तर मायासे चित्रित स्थूल ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये एकाक्षर वेद प्रणवसे अनेकों अक्षरवाले (शब्दात्मक) स्थूल वेदोंकी रचना की। दो अक्षरोंवाली गायत्रीसे चौबीस अक्षरोंवाली गायत्रीका प्रकाशन किया। योग से स्मृति–पुराण आदि अनेकों शास्त्रों का प्रणयन किया। उनका उद्धार करने के लिये ब्राह्मण, परमहंस तथा इनके अतिरिक्त संसारियों (लोकव्यवहार में तत्पर लोगों) को भी नियोजित किया।

गुरु के वचन का पालन

नाथ-सूत्र में—

एकवारं वचनं लुप्यते तेन युगे युगे लुप्यत इतिहेतोर्गुरुवचनं कदापि काले न लोपनीयं कर्तव्यमेव। ये पुरुषा अभ्यासहीना अभिमानेन सभायां यस्य कस्यापि देवस्य धर्मस्य वा पक्षं गृह्णन्ति। स पक्षः स्वार्थे त्यज्यते, तादृशः कथं मोक्षभाग्भवेत्। तादृशाश्च सद्गुरुभिरपि कथमङ्गीकरिष्यन्ते, तेषामिष्टदेवोऽपि चाप्रसन्नो भवेत्। केनचित्कथ्यतेऽहं स्मार्तोऽहं वैष्णवोऽहं यः कश्चिद्। यदा मया कथ्यते त्वं स्मार्तोऽसि तर्हि स्मृत्युक्ताचरणं सर्वमपि त्वयि वर्तते ? तदा स कथयति सर्वाचरणं तु नास्ति, यदा मया कथ्यते स्मार्तोऽहमिति कथनमेवाचरणं तु नास्ति, यतस्तद्धर्मानाचरणेन प्रत्यवायो न स्यात् पुनर्मिथ्यादोषश्च न स्यात् तदा स कथयति, अहं स्मार्तो नास्मि। यदा पुनर्मया कथ्यते स्मार्त्तकुलोत्पन्नः स्मार्तधर्मा न भवेत्तर्हि धर्मविरुद्धत्वमापतेदिति। तदा स कथयति यत्प्रारब्धं तत्तादृशोऽहम्। यदा मया कथ्यते प्रारब्धे श्रद्धास्थैर्यमागृह्णाति। कथं प्राणिनां यत्प्रारब्धं तथैव भवेत्, परन्तु प्रथमकथने तत्र धैर्यं नायाति, कस्यापि प्रारब्ध कूपे पतनं भविष्यतीति रूपं स चाज्ञतया पततु नाम परन्तु यदा ज्ञायते तदा तु तस्य

निवृत्तोरिवोपायं करिष्यतीति । तेन हेतुनात्वदुक्तं याहक् प्रारब्धं नाहशोऽहमस्मीति यत्तन्न भवत्येव । तदा स पुनः कथयति यद्गुरुराज्ञापयति तत्करोमीति, यदा मया कथ्यते गुरुरुत्तमाधिकारी त्वं तु मन्दाधिकारी, गुरुवाक्ये तव विश्वासः स्यादिति तदा तेन नोक्तमितिरीत्या बहुधालापे किमपि चिह्नं वर्णरूपमाश्रमरूपं वा स्त्रीरूपं पुंरूप वा नयतेऽव्यक्तलिगत्वमत्याश्रमित्वमेव स्थीयते, यतः किमर्थंमसत्ये वस्तुनि कल्पना क्रियते महासत्यस्वरूपमेकमवधूतत्वमेव गृहणीयादिति । पुनरपि सर्वाचरणं नास्ति तदा स्मार्तोऽहमिति कथं कथ्यते, तदा स कथयति कश्चन स्मार्तो धर्मो मयि वर्त्तते, तदा मया कथ्यते कश्चन स्मार्तो धर्मस्तर्हि कश्चनान्यः कस्य धर्मस्तदा स कथयति-कश्चन मनोऽनुकूल एव धर्मस्तदा मया कथ्यते तव मनोऽनुकूलो भवतु नाम धर्मः परन्तु कस्यापि तु धर्म एव स भविष्यति तथा च धर्मसंकरोऽसीति । तदा स कथयति नाहं स्मार्त्तः । तदा मया कथ्यते स्मार्तकुलोत्पन्नत्वेन च यदि स्मार्तो न भविष्यति तर्हि समस्तमेव धर्मं भ्रष्टं भविष्यतीति, स कथयति-तात्पर्यमिदमिदं कर्म ईदृशं वर्त्तते यत्तद्वत्रमिति, तदा तत्करणं विना किं भवेत् । केवलज्ञानेन कथं सिद्धिः ज्ञानमपि कर्मैव वर्त्तते, अन्तःकरणस्य धर्मत्वात्तत्रापि करणं वर्त्तत एवेति ।

यदि एक बार (गुरुके) वचन का लोप हो जाय तो प्रत्येक युगमें ही उसका लोप होता रहता है, इस कारण किसी भी समय गुरु के वचनका लोप नहीं करना चाहिए; उसका अवश्य पालन करना चाहिये । जो पुरुष अभ्यासहीन होते हैं, वे अभिमानवश सभामें जिस-किसी भी देवता अथवा धर्मका पक्ष ग्रहण तो कर लेते हैं, परन्तु स्वार्थ सिद्ध हो जानेपर उसपक्षका त्याग भी कर देते हैं । ऐसे पुरुष भला किस तरह मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं ? सद्गुरुओं द्वारा ऐसे लोग किस तरह शिष्य रूपमें स्वीकार किये जा सकते हैं तथा उनका इष्टदेव भी अप्रसन्न हो जाता है । किसीने कहा कि मैं स्मार्त हूँ, मैं वैष्णव हूँ, मैं यह-वह हूँ । जब मैंने पूछा कि यदि तुम स्मार्त हो तो क्या तुम्हारेमें स्मृति-प्रतिपादित सभी आचरण वर्तमान हैं ? तब उसने कहा कि सभी आचरण तो नहीं हैं । जब मैंने कहा कि "मैं स्मार्त हूँ" यह कथनमात्र ही तो आचरण नहीं हैं, क्या उस धर्मका आचरण न करनेसे विघ्न नहीं होता ? अथवा मिथ्यादोष भी नही लगता ? तब उसने कहा कि मैं स्मार्त नहीं हूँ । जब मैंने फिर कहा कि स्मार्तकुलमें उत्पन्न होकर यदि तुम स्मार्तका आचरण नहीं

करोगे तो तुमपर धर्म-विरोधी होनेका दोष लगेगा । तब उसने कहा कि जैसा प्रारब्ध है, वैसा ही मैं हूँ । जब मैंने कहा कि प्रारब्धको मान लेनेपर श्रद्धा सब ओरसे स्थिरता ग्रहण कर लेती है, क्योंकि प्राणियोंका जैसा प्रारब्ध होता है, वैसा ही होता है, परन्तु पहले के कथनमें धीरता नहीं आती । किसीका प्रारब्ध इस प्रकारका है कि 'यह कुएँमें गिरेगा' वह अज्ञानवश कुएँ में गिर भी पड़े, परन्तु जब उसे यह ज्ञात हो जायगा, तब तो वह उसकी निवृत्तिका ही उपाय करेगा । इस कारण तुम्हारा जो यह कथन है कि 'जैसा प्रारब्ध है, वैसा ही मैं हूँ, वह ठीक नहीं लगता । तब उसने फिर कहा कि गुरुदेव जो आज्ञा देते हैं' मैं वही करता हूँ । जब मैंने कहा कि गुरु तो उत्तम अधिकारी हैं और तुम मन्द अधिकारी हो, फिर गुरु-वाक्यमें तुम्हारा विश्वास किस तरह हो सकता है ? तब उसने कुछ नहीं कहा; मौन हो गया । इस तरह अनेकों ढंगसे वार्तालाप करनेपर जब वर्णरूप अथवा आश्रमरूप, स्त्रीरूप या पुरुषरूप कोई भी चिह्न निश्चित नहीं हो सका, अपितु अव्यक्तलिंगरूप वर्णाश्रमधर्मनिरपेक्ष अत्याश्रमित्व – अवधूतमार्ग ही स्थित रहा, तब असत्य वस्तुमें कल्पना करनेसे क्या लाभ ? एकमात्र महासत्य-स्वरूप अवधूतमार्गको ही ग्रहण करना चाहिये । फिर भी जब तुम इन सभी आचरणका पालन नहीं कर सकते, तब मैं स्मार्त हूँ ऐसा क्यों कहते हो ? तब उसने कहा कि कोई-न-कोई स्मार्त-धर्म मुझमें वर्तमान है । जब मैंने पूछा कि कोई स्मार्त धर्म है तो कोई अन्य होगा, वह दूसरा किसका धर्म है ? तब उसने कहा कि कोई मन को अच्छा लगनेवाला ही धर्म है । जब मैंने कहा कि धर्म तुम्हारे मन को अच्छा लग सकता है, परन्तु वह किसीका तो धर्म ही होगा, इस प्रकार तुम धर्मसंकर हो । (शुद्ध स्मार्तधर्मी नहीं हो ।) तब उसने कहा कि मैं स्मार्त नहीं हूँ । इसपर मैंने कहा कि स्मार्तकुलमें उत्पन्न होनेके कारण यदि तुम स्मार्त नहीं होगे तो सारा धर्म ही भ्रष्ट हो जायेगा । तब उसने कहा कि इसका तात्पर्य यह है कि यह कार्य जो इस प्रकार वर्तमान है, वह वज्र है, तब उसे किये बिना क्या हो सकता है ? केवल ज्ञानसे किस तरह सिद्धि प्राप्त हो सकती है ? अन्तःकरणका धर्म होनेके कारण ज्ञान भी कर्म ही है, उसमें भी कर्म वर्तमान ही है ।

महासिद्ध-मतद्वारा द्वैताद्वैतका निरास

द्वैतवादिनः किं कथयन्ति—अस्माभिः प्रेरकं प्रति कथ्यते द्वैतमिति नास्तीति, सत्यद्वैत एव परन्तु द्वैतं शरीरं, यतः शरीर-

शरीरिभावेन सोऽपि द्वैत एवास्ति, इति कथ्यते : अद्वैतवादिनश्च किं कथयन्ति-अद्वैतमेवास्ति यच्छरीरं द्वैतं दृश्यते तत्तु मिथ्यैवेति। महासिद्धाः कथयन्ति-चैतन्य जड़ञ्च शरीरादि उभयमपि मिलित्वा एकमेव पूर्णं वस्तु, यतः परमाद्वैतं यत्किमपि नाथतेजस्तच्चक्रवर्ति सर्वोपरि वर्तते। केचित्कथयन्ति-ज्ञानिनो ज्ञानं निरपेक्षमेव कर्मणोऽपेक्षां पूर्वकालेऽपि न करोति तत्तु नास्त्येव। भवदीयमतानि सर्वाण्यपि शास्त्राण्यूर्ध्वबाहुतयैवमेव वदन्ति-कर्मणा चित्तशुद्धिः स्यादनन्तरं तत्त्याग स्त्यागाच्च ज्ञानप्राप्तिर्ज्ञानान्मुमुक्तिरियं वार्ता घण्टाघोषवद्विद्यत इति।

द्वैतवादी क्या कहते हैं--हमलोग प्रेरकके प्रति कहते हैं कि द्वैत ही है और अद्वैतके रहते हुए वह नहीं है, परन्तु द्वैत साकार है, इसलिये शरीर-शरीरीभावसे वह भी द्वैत ही है--ऐसा कहते हैं। अद्वैतवादी क्या कहते हैं-- अद्वैत ही है, क्योंकि जो शरीररूप (साकार) द्वैत दीख पड़ता है, वह तो मिथ्या ही है। महासिद्ध कहते हैं—चैतन्य और जड-शरीर दोनों मिलकर एक ही पूर्ण वस्तु हैं, इसलिये नाथ-तेजःस्वरूप जो कोई (द्वैताद्वैतविलक्षण) परमाद्वैत है, वह चक्रवर्ती सम्राट्के समान सबसे ऊपर (सर्वेश्वर) है। कुछ लोग कहते हैं—ज्ञानीका ज्ञान निरपेक्ष ही होता है, वह पूर्वकालमें भी कर्मकी अपेक्षा नहीं करता, तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि आपके मतपरक सभी शास्त्र भुजाएँ ऊपर उठाकर इस प्रकार घोषणा कर रहे हैं कि कर्मसे चित्तशुद्धि होती है, उसके बाद उसका (स्वतः) त्याग होता है, त्यागसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है--ऐसी वार्ता जोर-जोरसे घंटा बजने की आवाजके समान विद्यमान है।

गृहकर्मसमासक्तमहं ब्रह्मेति वादिनम्।
कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा ॥ इति ॥

जो गृह-कर्म (सांसारिक प्रपञ्च और लोक-व्यवहार) में लगे हैं और, 'अहं ब्रह्म--मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा भी कहते हैं, वे कर्म और ब्रह्म--दोनोंसे ही भ्रष्ट हैं, न उन्हें कर्म के महत्वका पता है, न वे ब्रह्मज्ञानके ही अधिकारी हैं। उन्हें अन्त्यज-चाण्डाल के समान त्याग देना चाहिये।

तदा कर्मनिरपेक्षं ज्ञानं कथं जातम्। सहस्रविधिस्थले त्वेवमेव कथितं यदेकेन शांकरभाष्ये एकस्मिन् स्थले लिखनेन कथमप्रमाणं भविष्यतीति। वेदा गृहस्थधर्मं वर्णयन्ति तस्य रीतिर्मया कथ्यते। गार्हस्थ्यं विना

स्त्रियं तु प्रवर्तत एव नहि, स्त्रीमूलकत्वादेव गार्हस्थ्यस्येति । पुनः कथ्यते मासे मासे रात्रित्रयमार्तवं तत्र संतानार्थमृतुदानं देयमन्यच्च सुखाय विषय-संभोगो न सेव्य इत्यपि तेषामुपदेश इति । यद्येवं तर्हि प्रथमं गृहे वासकरणं तत्राहारादिसेवनं तेन च शरीरे पुष्टिस्तत्क्रमेण शरीरे कामोद्रेकाभवनं नास्ति कदाचित्स्वशरीरं वशे क्रियते । तथापि तावत् स्त्रियाश्चित्तं तु विना-कामोपभोगं क्षणमपि न तुष्टं भवेत् । कथं तासां काम एवेष्टस्ततश्च तस्याः पोषणं विना तच्चित्ते व्यभिचार एव वसति । तेन पापेन सर्वं नष्टमेव भवेत्, लोके चोपहासो भवेत् । अतः कारणान्महासिद्धा गार्हस्थ्यं न कुर्वन्ति । सिद्धानामिष्टो नाथः, सोऽपि स्त्रियं नाङ्गीचकार । सर्वे ब्रह्मविष्णुरुद्रादयो देवाः शेषादयो नागा मन्वादयो नरा अन्ये च पशु-पक्षिणो यावज्जीवं सर्वे स्त्रीजिताः, एको नाथ एव मायाजेता । तदुक्तं महासिद्ध श्रीविचारनाथेन भर्तृहरिणा—

तब कर्मनिरपेक्ष ज्ञान किस तरह उत्पन्न हुआ । जब सहस्रों स्थानोंपर ऐसा ही कहा गया है, तब शांकरभाष्यमें एक स्थलपर किसीके द्वारा ऐसा लिख देनेसे वह प्रमाणरहित किस तरह हो जायगा । वेद जिस गृहस्थ-धर्मका वर्णन करते हैं, उसकी रीति मैं बतलाता हूँ—गृहस्थ-धर्म स्त्रीके बिना तो चल ही नहीं सकता; क्योंकि गृहस्थ धर्म (गृहिणी) स्त्रीमूलक ही है । स्त्रीसे सिद्ध होता है । आगे कहता हूँ—प्रत्येक मासमें तीन रात्रितक स्त्रियोंका ऋतुकाल होता है, उसके बाद संतानोत्पत्तिके लिये ऋतुदान देना चाहिये, साथ ही शरीरसुखके निमित्त विषय-भोगका सेवन नहीं करना चाहिये, यह भी वेदोंका उपदेश है । यदि ऐसा हो तो पहले घरमें निवास करना, वहाँ भोजन आदिका सेवन करना, उससे शरीरकी पुष्टि होना, तत्पश्चात् क्रमसे शरीरमें कामभावका उत्पन्न होना, यदि अपने शरीर को वशमें किये रहे तो न भी होना (आदि यथाक्रम) स्पष्ट है, परन्तु स्त्रीका चित्त तो कामोपभागके बिना क्षणमात्र भी संतुष्ट नहीं होता, उन्हें काम ही इष्ट होता है, इसलिये उसकी पूर्ति के अभाव में उनके चित्तमें व्यभिचार घर कर लेता है । तब उस पापसे सब कुछ नष्ट हो जाता है और लोकमें उपहास होता है । इसी कारण महासिद्धलोग गृहस्थ-धर्मको स्वीकार नहीं करते । सिद्धोंके इष्टदेव नाथ हैं, उन्होंने भी स्त्रीको स्वीकार नहीं किया । जब कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि सम्पूर्ण देव-समुदाय, शेष आदि नागगण, मनु आदि मनुष्य तथा अन्य पशु-पक्षी आदि जीव—सभी स्त्रीके वशीभूत हैं, मायाको जीतनेवाले तो एक नाथ ही हैं । इसीलिये महा-सिद्ध श्रीविचारनाथ भर्तृहरिने कहा है—

शंभुस्वयम्भुहरयो हरिणेक्षणानां येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः ।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रताय तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ॥
(श्रृङ्गारशतक–१)

जिन्होंने शम्भु, ब्रह्मा और विष्णुको हरिणकी-सी चञ्चल नेत्रोंवाली उनकी पत्नियोंके लिये निरन्तर गृह-कर्म में तत्पर रहनेवाला दास (सेवक) बना दिया तथा जिनका विचित्र चरित्र वाणी के द्वारा अकथनीय (अनिर्वचनीय) है, उन भगवान् कुसुमायुध कामदेवको नमस्कार है।

अतः कारणाद् यदा गार्हस्थ्यं कृतं तदा स्त्रीपोषणमवश्यमेव कर्तव्यं यदा च विरागेच्छा तदा त्वधूतेनैव भाव्यमिति। परमहंसास्तु कामं निषेधयन्ति स निषेधो न भवत्येवं कथम् ? तदुक्तं श्रीमीननाथेन—

इस कारण जब गृहस्थ-धर्मको स्वीकार किया जाय तो स्त्रीका पोषण करना ही चाहिये और जब विरागकी इच्छा उत्पन्न हो तो अवधूत होना चाहिये। परमहंसगण कामका निषेध तो करते हैं, परन्तु वह निषेध सफल नहीं होता। क्यों सफल नहीं होता—इस विषय में श्रीमीननाथ ने कहा है—

हरकोपानलेनैव भस्मीभूतः कृतः स्मरः ।
अर्धगौरीशरीरो हि तेन तस्मै नमोऽस्तु ते ॥

शिवजीने अपनी क्रोधाग्निसे ही कामदेवको जलाकर राखका ढेर बना दिया (भस्म कर दिया)। उसके बाद कामदेवने उन्हें अर्धगौरी-शरीर कर दिया अर्थात् शिवजीके आधे अङ्गमें गौरी विराजित हो गयीं, ऐसे उन कामदेवको नमस्कार है।

अवधूतोंकी त्याग और भोग–दोनोंकी शक्ति-भक्तिका निरूपण

अतो महासिद्धा विपरीतया तु त्यागमेव कुर्वन्ति। पुनः प्रकृतिरपि ब्रह्मैव वर्तते। शिवशक्त्योरस्माकं मते ऐक्यमेव वर्तते। तदुक्तं—सिद्ध-सिद्धान्तपद्धतौ—

इसलिये महासिद्ध विषय के अनुसार त्याग ही करते हैं। फिर प्रकृति भी ब्रह्म (स्वरूपिणी) ही है। हमलोगोंके मत में शिव और शक्तिकी एकता (सिद्ध) है ही। सिद्धसिद्धान्तपद्धतिमें कहा गया है—

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥
(४। २६)

शिवके हृदयमें शक्ति और शक्तिके हृदयमें शिव उसी तरह विद्यमान हैं, जिसतरह चन्द्रमा और चन्द्रिका एकही हैं, इसलिये उनमें भेद नहीं मानना चाहिये।

प्रसरं भासयेच्छक्तिः संकोचं भासयेच्छिवः।
तयोर्योगस्य कर्त्ता यः स भवेत्सिद्धयोगिराट् ॥
(६। ६३)

शक्ति उत्पत्ति (सृष्टि) को प्रकाशित करती है और शिव लयको प्रकाशित करते हैं, जो इन दोनों—शिव और शक्तिकी एकता (अभिन्नता) सम्पन्न कर देता है, वह सिद्ध योगिराज हो जाता है।

एवं त ऐक्यं ज्ञात्वा काममपि भजन्त्येव। अत एवोक्तम्—"क्वचिद्भोगी क्वचित्त्यागी" इत्यादि। त्यागिनामपेक्षया त्याग एव एतादृश एतैः क्रियते, यादृशस्त्यागिनामपि न भवेत्। कथम्? कर्मराहित्योपरि तु त्यागो नास्ति तदेतैः प्रारब्धमपि त्यज्यते। शून्ये लग्नैः प्रारब्धमपि त्यज्यते। यदा च भोगं कुर्वन्ति तदा संसारिणोऽपि यादृशं न कुर्वन्ति तादृशमेते कुर्वन्ति। कथं प्रकृतिलग्ना एतदुभयं मिलित्वा पूर्णे लग्ना अतस्तेषां रीतिर्विलक्षणैव। भोगिभिस्तु भोग एवैकः क्रियते तेषां त्यागो न भवति। भोगिनां त्वेको भोग एव भवति न तु ते त्यागे समर्थाः। पुनस्त्यागिनो ये भवन्ति तैः प्रथममेव त्यागः कृतोऽपि एव त्यागिन इति येषां नामतैः पुनर्भोगः कथं क्रियेत। करणे च सर्वमेव नष्टं स्यादिति। अथ चावधूतास्त्यागिनामपि लोके त्यागस्याधिक्यं दृष्टिगोचरं कृत्वा पुनः स्वेच्छया भोगमपि कदाचित्कुर्वन्ति तथापि तेषां भोगो बाधको न भवेत्। भोगिनो

भोगमेव कुर्वन्त्येवं त्यागिनस्त्यागमेवेत्यवधूतानां तु त्यागभोगयोर्द्वयोरपि पदार्थयोः सामर्थ्यम्। त्यागं कया रीत्या कुर्वन्ति ? युगपर्यन्तमप्याहारादिकं न गृह्णन्त्येवं त्यागिनां न भवति। कथम् ? ते देहेन विजिता एते तु देहाधीनाः सन्ति यत इति दिक्। अनया रीत्या परमार्थस्तु प्रथमेव नष्टः। कथम् ? यदा स्त्री गृहीता, पश्चादयं लोको नष्टः। कदा ? यदा स्त्रीग्रहणेन गार्हस्थ्यं जातम् तत्र च गृहस्थरीत्या प्रवृत्तो न। एवं च द्वावपि लोकौ नष्टौ, भोगोऽपि नास्ति मुक्तिरपि नास्ति। चञ्चलेन मनसा सर्वमपि नष्टीकृतम्। कथं गार्हस्थ्यं त्यक्त्वाऽऽश्रमान्तरं गृह्णाति। तत्रापि पुनः श्रमेण कातरो भूत्वा दुःखेन सीदन्सन् प्रारब्धाङ्गीकाराद् यद्यद्यथा प्रारब्धं तत्तत्सर्वमपि कर्म करोति, तदा कर्मणः सांकुरत्वादेव कदापि काले मुक्तिभाङ् न भवत्येव। यथा ग्रामे गर्दभा वने वा शूकरास्तथा विषयवशो वारं वारं जन्मादि गृह्णाति। पुनश्चञ्चलेन मनसा युक्तो हस्ती ग्रामाद्वनं गच्छति, किंचित् सुखं मे भविष्यतीति, वनाच्छृगालो ग्राममागच्छति मृतकास्थ्यादिभक्षणार्थमिति निर्देश इति। यथा राजस्त्रीगणोऽनेको स्वयं तु राजा एक एव, स तासां समस्तानां कामवृत्ति पूर्णां कथं कुर्यात्। स्वचित्तप्रसादेनैव यथेच्छं क्रीडति नाम यतस्तासां तु महत्तरं दुःखमेव स्यात्। तेन दुःखजनितापध्यानेन राज्ञोऽकल्याणमेव भवेत्। अत एवोक्तं राज्यान्ते नरक इति। तथैवतादृश एवाचार्य एक एव शिष्यास्तु बहवः कृतास्तेषु कस्य कस्य पापं संहरेत्। पापहरणासमर्थो बहूनां शिष्याणां पापेनाचार्योऽपि दुर्गतिमेव प्राप्नुयात्। तदुक्तं सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ 'आचार्या बहुदीक्षिता' इत्यादि, 'ते तत्वतो वञ्चिता' इत्यन्तम्। यदा तत्वतो वञ्चितास्तदा मुख्य..........नरकभाज एवेत्यर्थादागतम्। अतो हेतोर्बहुशिष्यकरणं सिद्धानां मते वर्जितम्।

इस प्रकार वे महासिद्ध ऐक्यज्ञान प्राप्त करके कामका (विषयभोग का) भी सेवन करते ही हैं। इसीलिये कहा गया है—'कहीं योगी और कहीं त्यागी' आदि। क्योंकि जो कर्मरहित हैं, उनके लिये तो त्यागका औचित्य नहीं है, तब ये लोग प्रारब्धका भी त्याग कर देते हैं। शून्यमें लगे हुए लोगोंद्वारा प्रारब्धका त्याग हो जाता है। जब ये भोग करनेमें लग जाते हैं, तब ये भोग भी ऐसा करते हैं, जिस तरह संसारी भी नहीं कर सकते, क्योंकि पहले तो ये प्रकृतिमें संलग्न रहते है, फिर इन दोनोंको मिलाकर पूर्णमें संलग्न हो जाते हैं, अतः इनकी रीति विलक्षण ही है। भोगीलोग तो एकमात्र भोग ही करते हैं। उनमें त्याग नहीं होता; क्योंकि

भोगियोंकी दृष्टिमें एकमात्र भोग ही रहता है, इसलिये वे त्याग करनेमें समर्थ नहीं होते। फिर जो लोग त्यागी होते हैं, वे पहले ही त्याग कर चुके होते हैं, अतः जिनका 'त्यागी' नाम पड़ गया, वे पुनः भोग किस तरह कर सकते हैं। यदि वे भोग करते हैं तो सब कुछ नष्ट हो जायगा। इधर अवधूतलोग संसारमें त्यागियोंसे भी बढ़कर त्यागकी अधिकता प्रत्यक्ष दिखलाकर पुनः यदि कदाचित् स्वेच्छानुसार भोग भी करते हैं तो भी वह भोग उनके लिये बाधक नहीं होता। भोगी केवल भोग करते हैं। इसी प्रकार त्यागी केवल त्याग करते हैं, परन्तु अवधूतोंमें तो त्याग और भोग—दोनों पदार्थों का सेवन करने की शक्ति होती है। वे त्याग किस प्रकार करते हैं? वे एक युगपर्यन्त भोजन आदि नहीं ग्रहण करते। ऐसा त्यागी नहीं कर सकते, क्योंकि वे देहद्वारा पराजित होते हैं, साथ ही त्यागी देहके अधीन होते हैं। इस प्रकार जब स्त्री ग्रहण कर ली, तब परमार्थ तो पहले ही नष्ट हो जाता है तथा जब स्त्री ग्रहण करके गृहस्थ-धर्मी बन गये, परन्तु वहाँ गृहस्थ-धर्म के अनुसार कार्यमें प्रवृत्त नहीं हुए तो बादमें यह लोक भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार दोनों ही लोक नष्ट हो गये, जिससे न भोग ही मिला, न मुक्ति ही प्राप्त हुई। इस चञ्चल मनने सब कुछ नष्ट कर दिया। पुनः जब वह गृहस्थाश्रमको छोड़कर दूसरा आश्रम ग्रहण करता है और वहाँ भी पुनः परिश्रमसे कातर होकर दुःख भोगते हुए प्रारब्धको अंगीकार करनेके कारण जिस समय जो-जो प्रारब्ध कर्म आ पड़ा, उन सभीको करता है, तब कर्मके अंकुरित होने के साथ ही (उसके कारण) वह किसी भी समय मुक्तिभागी नहीं होता, अपितु गाँवमें गधों अथवा वनमें सूअरोंकी तरह विषयोंके वशीभूत होकर बार-बार जन्म आदि ग्रहण करता है। फिर जिस तरह चञ्चल मनसे युक्त हाथी सुखकी आशा लेकर गाँवसे वनमें आता है कि वहाँ मुझे कुछ सुख प्राप्त होगा तथा श्रृगाल मृतकोंकी हड्डी आदि चबानेके लिये वनसे गाँवमें आता है उसी प्रकार वह भी कभी गाँव से वनमें और कभी वनसे गाँवमें चक्कर काटता रहता है, जिस तरह राजा तो अकेला ही होता है, परन्तु उसकी अनेकों रानियाँ होती हैं, ऐसी दशामें वह उन सभी की कामवृद्धिको किस तरह पूर्ण कर सकता है, वह अपने मनोविनोदके लिये उनके साथ इच्छानुसार क्रीड़ामात्र करता है, परन्तु इससे तो उन्हें महान् दुःख ही होता है तथा उस दुःखजनित कुविचारसे राजाका अमंगल ही होता है, इसीलिये कहा गया है कि राज्यके बाद नरक प्राप्त होता है, उसी तरह यहाँ भी है, जिस तरह एक ही आचार्यने बहुतेरे शिष्य बनाये, अब भला वह उन शिष्योंमेंसे किस-किसके पापका संहार (नाश) करेगा। इस तरह पापको हरण करने (नष्ट करने) में

असमर्थ होनेके कारण बहुतसे शिष्योंके पापसे आचार्यभी दुर्गतिको ही प्राप्त होता है। इसीलिये सिद्धसिद्धान्तपद्धतिमें 'आचार्या बहुदीक्षिता, से लेकर 'ते तत्त्वतो वञ्चिता:'की समाप्ति तक कहा गया है—जब वे तत्त्वसे वञ्चित हो गये, तब नरकभागी तो होंगे ही, यह तो अर्थसे ही सिद्ध हो गया। इसी कारण सिद्धोंके मत में बहुतों को शिष्य बनाना वर्जित है।

षट्पदार्थ-निरूपण, देवताओंकी भगवत्ताका निरसन तथा नाथकी योग्यता (सामर्थ्य) का वर्णन

षट् पदार्था यत्र भवन्ति स भगवान्। के ते षट् पदार्थाः? अमी-समग्रैश्वर्यं १ धर्मं २ यशः ३ श्रीः ४ ज्ञानं ५ वैराग्यम् ६, इत्येषां मध्य एकोऽपि रुद्रविष्णवादिना भगवत्पदवाच्येषु न। प्रथमं तु समग्रमैश्वर्यं योगरूपं तदेव नास्ति, कथम्? सर्वे कामवशाः स्त्रीसंगिनो यान् लोकाः योगिनो कथयन्ति तेषां स्त्रीसंग एवत्तु हास्यमेव। पुनर्धर्मं यत्र यत्र स्थले छलः क्रियते तदा धर्मभावः कथम्? छलस्तु नारदस्य वानरमुखकरणादिना विष्णोः प्रसिद्धमेवेति। पुनर्यशस्तदपि कथं रावणवधे लोककल्याणे यशो जातं तथैव स्त्रीहरणेऽपयशोऽपि जातम्। कथम्? रावणस्य पामरस्य वधेन किं तस्य बालिवानरेण बन्धनं कृतं सहस्रबाहुनार्जुनेन च बन्धनं कृतं पुनः रामस्तु भगवानिति कथ्यते, जगत्कर्त्ता च कथ्यते, तस्य स्त्री हरणमेतत्तु महदपयशः। पुनः श्रीर्यस्य परमार्थे मुक्तिर्नास्ति ऐहिके च यशो नास्ति तस्य श्रीः कथम्। पुनर्ज्ञानं यदा ज्ञानस्वरूपास्ते तदा अज्ञान-कार्ये संसारकार्ये किमर्थं प्रवृत्तास्ततो ज्ञानं कथम्। पुनर्वैराग्यं तत्तु सर्वथै-वैतत् कल्पितेष्वीश्वरेषु नैव नैवेति। कथम्? पुराण एतेषां लौकिकया त्वेवमायास्यति तत्तु वक्तुमशक्यं दास्यां वेश्यायामासक्ता इत्यादि किं किं लिख्यते। तदा वैराग्यं कुत्र? अतः कारणात् षडेव पदार्था नाथेष्वेव एव तिष्ठन्ति। समग्रैश्वर्यं तु योगः, स तु सहजसिद्ध एव। पुनर्धर्मोऽपि स एव यो मुक्तिरूपः, एतद्व्यतिरिक्तस्मृत्यादिशास्त्राणि यं धर्मं वर्णयन्ति स त्वधर्म एव। पुनर्यशोऽपि तस्यैव यो मुक्तरूपो बन्धरूपस्य कथं यशः। पुनः श्रीः शोभापि तस्यैव यो मुक्तो बन्धरूपस्य छविः कथं भवेद्यो लौकि-कसुखदुःखे मग्नः। ज्ञानं तस्यैव ज्ञानं पुनर्वैराग्यं तस्यैव वैराग्यमेवं च सर्वेषामाधारो नाथ एवातः कारणान्महासिद्धानां तात्पर्यं नाथपरमेवेति।

कोऽपि कथयति-कि नाथ एव मुक्तिरूप एते ईश्वरा मुक्तान सन्ति ? तत्तु प्रथमेवोक्तं ये स्त्रीसंयुक्ताः संसारकार्यं चासक्तास्ते कथं मुक्तरूपा इत्यत एवात्र एतेषां मुक्तिबन्धरूपत्वं कथयिष्यते । भगवच्छब्दनिर्णयोऽपि करिष्यते ।

जिसमें छः पदार्थ (पूर्णरूपसे विद्यमान) होते हैं, वह भगवान् कहा जाता है । वे छः पदार्थ कौन हैं ? वे ये हैं—१-समग्र ऐश्वर्य, २-धर्म, ३-यश, ४-श्री, ५-ज्ञान और ६-वैराग्य । इनमेंसे एक भी भगवत्पदवाची रुद्र, विष्णु आदि देवताओंमें नहीं है । पहला जो योगरूप समग्र ऐश्वर्य है, वही नहीं है, क्योंकि वे सभी कामके वशीभूत और स्त्रीका संग करनेवाले हैं । जिन्हें लोग योगी कहें और वे स्त्रीका संग करें तो यह तो उपहास ही है । पुनः धर्मको लीजिये । जिस-जिस स्थलपर छल किया जाता है, वहाँ धर्मका अस्तित्व होना किस तरह सम्भव है और विष्णुका छल, नारदका वानरका मुख बना देना आदि प्रसिद्ध ही है ! पुनः यशको लीजिये, वह भी कहाँ है । जिस प्रकार लोक-कल्याणके लिये रावणका वध करनेसे यश प्राप्त हुआ, उसी प्रकार स्त्रीका हरण हो जानेपर अपयश भी हुआ । फिर नीच रावणके वधसे यश ही क्या ? उसे तो बाली-नामक वानरने बाँध लिया था तथा सहस्रबाहु अर्जुनने भी पकड़ लिया था । फिर भी रामको भगवान् कहा जाता है है और वे जगत्कर्ता भी कहलाते हैं, किंतु स्त्रीका हरण हो जाना—यह उनके लिये महान् अपयश है । पुनः श्रीको लीजिये, परमार्थसे जिसकी मुक्ति नहीं है और लोकमें जिसे यश नहीं प्राप्त है, उसे श्री—शोभा (सम्पन्नता अथवा सम्पूर्ण समृद्धि) किस तरह प्राप्त हो सकती है । पुनः ज्ञान-जब वे ज्ञानस्वरूप हैं, तब अज्ञानके कार्यरूप सांसारिक कार्यमें किस लिये प्रवृत्त हुए । इसलिये उनमें ज्ञान भी नहीं है । पुनः वैराग्य—वह तो इन कल्पित ईश्वरोंमें सर्वथा है ही नहीं, है ही नहीं; क्योंकि पुराणोंमें इनकी ऐसी लौकिक वार्तायें आती हैं, जिनका वर्णन करना अशक्य है । यहाँतक कि ये दासी और वेश्यामें आसक्त थे, आदि बातें कहाँतक लिखी जायँ । तब फिर उनमें वैराग्य कहाँसे हो सकता है । इस कारण छहों पदार्थ नाथोंमें ही स्थित हैं । यथा—समग्र, ऐश्वर्य योग है, वह तो उनके लिये सहज सिद्ध ही हैं । पुनः धर्म भी वही है, जो मुक्तिरूप हो; इसके अतिरिक्त स्मृतिआदि शास्त्र जिस धर्मका वर्णन करते हैं, वह तो अधर्म ही है । पुनः यश भी उसीको प्राप्त होता है, जो मुक्तिरूप है, बन्धरूपवालेको यश किस तरह उपलब्ध हो सकता है । श्री भी उसीकी होती है, जो मुक्त है, जो जागतिक सुख-दुःखमें मग्न है, उस बन्धरूपवालेको श्री किस तरह मिल सकती है । पुनः ज्ञान और वैराग्य-ये दोनों भी

उसीके हृदयमें होते हैं, जो मुक्त है। इस प्रकार सभी पदार्थों के आधार नाथ ही सिद्ध होते हैं। इसी कारण महासिद्धोंका तात्पर्य नाथपरक ही है। इसपर कोई कहता है—क्या नाथ ही मुक्तिरूप हैं, ये ईश्वर मुक्त नहीं हैं ? इसका उत्तर तो मैंने पहले ही दे दिया है कि जो स्त्रीसंयुक्त और सांसारिक कार्यमें आसक्त हैं, वे मुक्तरूप किस तरह हो सकते हैं। अतः आगे उनके मुक्त और बन्धरूप का वर्णन करेंगे तथा "भगवत्—भगवान्" शब्द का निर्णय भी करेंगे।

अस्माकं मते शक्तिः सृष्टिं करोति, शिवः पालनं करोति, कालः संहरति, नाथो मुक्तिं ददाति। ब्रह्मविष्णवोस्तु शिवशक्तिकालानामवान्तर-भेदेन कर्तृत्वादिशक्तिर्न तु स्वसत्तया। यदा शिवादयः संसारप्रवर्त्तका जातास्तदा बन्धरूपा एव भूताः कथम् ? जीवरूपेण बन्ध ईश्वररूपेणापि बन्धनं ददाति भेदोऽतएव जीवात्मा परमात्मेति, परन्तु शुद्ध आत्मा नास्ति, स तु शुद्ध आत्मा नाथ एव। एते संसारमज्ञानं प्रवर्त्तयन्ति। नाथस्त्वज्ञानं निवर्त्तयति। नाथरूपेण सृष्टिकरण उपेक्षा। आचार्याणां तु खण्डेषु पाण्डित्यं वर्त्तते पूर्णो धर्मो नास्ति। संसारप्रवृत्तिकरणरूपं वस्तु चैकं पूर्णो धर्मो न तु मोक्षधर्मो यथा राज्ञामेकं स्वार्थसम्पादकत्वमेव पूर्णं न त्वन्येधर्माः। धर्माश्च ते के इति ? यज्ञो वैराग्यं तपस्तीर्थं व्रतं त्यागो ज्ञानं योग इत्यादयः, शौर्यमौदार्यं यशोऽभिलाषः शस्त्रधारणमित्यादयः ब्रह्मचर्यं गृहीतं पुनर्गार्हस्थ्यं करोति पुनर्गार्हस्थ्यं किंचित्संसेव्य त्यागं करोत्यत एतदन्तरे यद्धर्मरहितत्वेन कालो जातस्तत्र धर्मो न्यून एव जायते तथा ह्युपदिशति।

हमारे मतमें शक्ति सृष्टि करती है, शिव उसका पालन करते हैं, काल उसका संहार करता है और नाथ मुक्ति प्रदान करते हैं। ब्रह्मा और विष्णुकी कर्तृत्व-पालकत्व आदि शक्तियां शिव, शक्ति और कालके अवान्तरभेदसे ही हैं, सत्तासे नहीं है। जब शिव आदि संसारके प्रवर्तक हुए, उसी समय वे बन्धरूप हो गये, क्योंकि जीवरूपसे प्राप्त हुआ बन्धन ईश्वररूपसे भी बन्धन देता है, इसलिये जीवात्मा और परमात्मामें भेद हो गया, परन्तु उनमें शुद्ध आत्मा नहीं रह गया। वह शुद्ध आत्मा तो नाथमें ही है। ये अज्ञानरूप संसारका प्रवर्तन करते हैं और नाथ अज्ञान को निवृत्त करते हैं, क्योंकि नाथरूपसे सृष्टि करनेमें उपेक्षा है। आचार्यों का पाण्डित्य आंशिक धर्मोंमें वर्तमान है, उनमें पूर्ण धर्म नहीं है। उनकी दृष्टिमें

संसारकी प्रवृत्ति करनारूप जो एक वस्तु है, वही पूर्ण धर्म है, मोक्ष-धर्म है, मोक्ष-धर्म पूर्ण नहीं है, जिस तरह राजाओंके लिये एकमात्र स्वार्थ-सम्पादनरूप धर्म ही पूर्ण धर्म है, अन्य धर्म नहीं, वे धर्म कौन हैं? वे धर्म ये हैं—यज्ञ, वैराग्य, तप, तीर्थ, व्रत, त्याग, ज्ञान, योग आदि तथा शौर्य (शूरता), औदार्य (उदारता), पुण्य, यशकी अभिलाषा, शस्त्र-धारण आदि, पहले ब्रह्मचर्य धारण किया, तत्पश्चात् गृहस्थ-धर्मको स्वीकार किया, पुनः कुछ समय तक गृहस्थ-धर्मका सेवन करके फिर उसका त्याग कर दिया, अतः इस बीच में जितना समय धर्मरहित था, उतने समयमें धर्मकी न्यूनता हो गयी। इसी प्रकार उपदेश देते हैं।

द्वैतवादिनः क्रियावद्ब्रह्मेति कथयन्ति, अद्वैतवादिनो निष्क्रियं तदिति कथयन्ति, तत्तु द्वयमपि निरन्तरं न भवति चाक्षरं न भवति, निश्चलं न भवति। कथं सर्वदा क्रियैव न भवति सर्वदा ह्यक्रियैव च न भवति, यूयं वयं चापि गृहेषु प्रातःकालादौ स्नानभोजनादिक्रियां कुर्मो मध्याह्नादावक्रियावसरे स्वस्वचित्तेऽक्रियतयैव स्थीयते, पुनः कार्यावसरे क्रियाकरणमेव भवेत्। तथैवेश्वरोऽपि। क्रियाक्रिये द्वेऽपि शक्तो तत्स्थ एव। निरन्तरं निश्चलमक्षरं भवति न तु एकदिशा ब्रह्म पूर्णं भवति। तदुक्तमवधूतगीतायाम्—

अखण्डं यत्स्वाज्ञानेन खण्डयतीति। तदुक्तम् 'खण्डयते कथम्?'
(१।१२)

द्वैतवादी कहते हैं कि ब्रह्म क्रियावान् (कर्ता) है और अद्वैतवादी उसे निष्क्रिय बतलाते हैं, किंतु वह निरन्तर सक्रिय अथवा अक्रिय-दोनों नहीं होता तथा न अक्षर होता है न निश्चल ही होता है। वह किस प्रकार सर्वदा सक्रिय अथवा अक्रिय नहीं होता, जिस तरह हम और तुमलोग भी घरोंमें प्रातःकाल पहले स्नान, भोजन आदि क्रियाएँ करते हैं और दोपहर के समय जब जब कर्म करनेका अवसर नहीं रहता, तब अपने-अपने चित्तमें क्रियारहित हो जाते हैं, पुनः कामके समय काम में लग जाते हैं, उसी तरह ईश्वरको भी समझना चाहिये। क्रिया और अक्रिया—ये दोनों ही शक्तियाँ उसमें वर्तमान हैं। वह निरन्तर निश्चल और अक्षर भी होता है, क्योंकि एकदेशी ब्रह्म पूर्ण नहीं होता। इसीलिये अवधूतगीतामें कहा गया है—"जो अखण्ड है, उसका अपने अज्ञानद्वारा खण्ड करते हैं।" और भी कहा है "जो खण्डरहित है, उसका खण्ड किस तरह कर सकते हैं।"

निर्गुण और सगुण आदिके स्थानका निरास तथा नाथकी सर्वोपरिवर्तिता

अतो द्वैतवादिनां कैलासवैकुण्ठादिस्थानमद्वैतवादिनां मायाशबलं ब्रह्म स्थानं बन्धमननान्तरं मुक्तिभवनात् योगिनां तु निर्गुणस्थानमथ च बन्धमुक्तिरहितपरमसिद्धान्तवादिनां योगिनां नित्यपिण्डावधूतानां तु निर्गुणसगुणातीतमद्वैतोपरिवर्ति यत्सर्वोपरिवर्त्त्येव स्थानं परमहंसाः कथयन्ति यदस्मदीयं निर्गुणस्थानं तत्तु कथनमात्रमेव। कथम्? एते तु निर्गुणब्रह्मणि, अमायिकब्रह्मणि मायाया गुणानां च स्थापनं कुर्वन्ति पुनर्नानाप्रकारेण सृष्टिक्रियादि तत्रारोपयन्ति, अनेकस्तोत्रैः स्तुवन्ति च। तथा च तत्कथं निर्गुणममायिकं च जातम्? माहात्म्यार्थं स्वप्रशंसार्थं च कथने निर्गुणं ब्रह्म लक्ष्य कथयन्ति न त्वाचरणे तद् दृश्यते। पुनः कथने निर्गुण ब्रह्म इष्टं तथापि पूर्णता न भवति, यथा योगिनामिष्टे वर्त्तते तया रीत्या। कथम्? प्रथमं तु ब्रह्मशब्दस्य व्युत्पत्तिकरणमेव स्थगितम्। ब्रह्म तु व्यापकं तन्निर्गुणं ब्रह्म सर्वव्यापकं न भवति कथं चैतन्यरूपेण जीवरूपेणैवद् व्यापकं कथ्यते तदा पञ्चभूतेषु व्यापकत्व-हानिरात्मरूपमेव व्यापकम्। पुनर्निर्गुणं तु शक्तिरहितमेव। तदा व्यापक-धर्मं एव तत्र कथं कथ्यते। एतद्रीत्या निर्गुणमेव ब्रह्मेव द्वयमपि परात्परं ब्रह्म न भवति, तस्मात् परमहंसापेक्षयाप्यवधूता उत्तमाः। कथम्? परात्परः पूर्णो नाथो लक्ष्य इति।

अतः द्वैतवादियोंका कैलास और वैकुण्ठ आदि स्थान है, अद्वैतवादियोंका मायाशबल ब्रह्म स्थान है, क्योंकि बन्ध-मननके पश्चात् उनकी मुक्ति होती है, योगियोंका निर्गुण ब्रह्मस्थान है तथा जो बन्ध-मुक्तिसे रहित परम सिद्धान्तवादी योगी हैं, उन नित्यपिण्डावधूतोंका तो वह स्थान है, जो निर्गुणसगुणसे परे, अद्वैत-के ऊपर वर्तमान एवं सबके ऊपर स्थित है। परमहंसलोग कहते हैं कि हमारा निर्गुणस्थान है, किंतु वह तो कथनमात्र ही है; क्योंकि ये निर्गुण ब्रह्म अथवा माया-तीत ब्रह्ममें गुणों और मायाकी स्थापना करते हैं, पुनः उनमें अनेकों प्रकारसे सृष्टि आदि क्रियाओंका आरोप करते हैं और अनेकों स्तोत्रोंद्वारा स्तवन भी करते हैं, ऐसी दशामें वह किस तरह निर्गुण और मायारहित हो सकता है? वे अपने कथनमें उसका माहात्म्य प्रदर्शित करनेके लिये या अपनी प्रशंसाके निमित्त निर्गुण ब्रह्मको लक्ष्य घोषित करते हैं, परन्तु वह आचरणमें नहीं दिखायी पड़ता। यद्यपि

कथनमें निर्गुण ब्रह्म इष्ट है, तथापि उसकी पूर्णता उस प्रकार नहीं होती, जिस प्रकार वह योगियोंके इष्टमें वर्तमान है; क्योंकि पहले-पहल ब्रह्म शब्दकी व्युत्पत्ति करना ही रोक दिया गया। ब्रह्म तो व्यापक है, किंतु वह निर्गुण ब्रह्म सर्वव्यापक नहीं है। फिर उसे चैतन्यरूप या जीवरूपसे व्यापक किस प्रकार बतलाते हैं। यदि ऐसा ही मानेंगे तो पञ्च-भूतोंमें उसका व्यापकत्व ही नष्ट हो जायगा और आत्मरूप ही व्यापक होगा। पुनः निर्गुण तो शक्तिरहित ही है, तब उसमें व्यापक धर्मकी स्थिति ही किस तरह बतलाते हैं। इस प्रकार तो निर्गुण ब्रह्म और ब्रह्म—दोनों ही परात्पर ब्रह्म नहीं हो सकते। इस कारण भी परमहंसोंकी अपेक्षा अवधूत उत्तम हैं, क्योंकि परात्पर पूर्ण ब्रह्मस्वरूप नाथ ही उनके लक्ष्य हैं।

नाथ से द्विविध सृष्टिकी प्रवृत्ति

अद्वैतोपरिवर्त्तिनिराकारसाकारातीतनाथान्निराकारज्योतिर्नाथो जातस्ततः साकारनाथो जातस्तदिच्छया सदाशिवो भैरवो जातस्तवश्च शक्तिर्भैरवी च जाता, तस्माद्विष्णुर्जातस्तस्मात् ब्रह्मा जातस्तेन सर्वा सृष्टि रुत्पन्ना। नाथाद् द्विप्रकारा सृष्टिर्जाता—नादरूपा बिन्दुरूपा च। नादरूपा शिष्यक्रमेण बिन्दुरूपा च पुत्रक्रमेण। नादान्नवनाथा जाताः बिन्दुतः सदाशिवो भैरवो जातः। पुनः शब्दसृष्टिप्रकारमाह—एका सूक्ष्मरूपिणी द्वितीया स्थूलरूपिणी। सूक्ष्मरूपिणी प्रणवो महागायत्री योगशास्त्रमिति। स्थूलरूपिणी ब्रह्मगायत्री वेदत्रयीति। पुनर्योगशास्त्रतस्तन्त्रशास्त्रं जातम्। वेदात्स्मृत्यादिशास्त्रं जातम्। पुनर्नवनाथानां पश्चाद् द्वादशसिद्धाश्चतुरशीतिश्च, द्वादशपन्थानोऽनन्त सिद्धाश्च जाताः सदाशिवभैरवाद्विष्णुब्रह्मासूर्यश्चन्द्रइन्द्रादिदेवता जाताः। पुनर्योगाच्छेषयोगसांख्ययोगादयोऽनेकयोगा अनेकभेदैर्जातास्तेन योगेन ज्योतिषन्यायादिकं शास्त्रं श्रुतितः स्मृतिशास्त्र व्याकरणपुराणोपपुराणानेकेतिहासा जाता एवं विग्रहसृष्टिर्निवृत्तिप्रवृत्तिरूपिणी जाता। पुनर्नादसृष्टिरपि सूक्ष्मस्थूलरूपिणी प्रकारद्वयात्मिका जाता।

जो अद्वैतके ऊपर वर्तमान हैं तथा साकार और निराकार से परे हैं, उन नाथसे निराकार ज्योतिस्वरूप नाथ उत्पन्न हुए। उनसे साकार नाथ की उत्पत्ति हुई। उनकी इच्छा से सदाशिव भैरव प्रकट हुए और उन्हीं से भैरवी शक्तिका प्रादुर्भाव हुआ। उससे विष्णु प्रकट हुए और विष्णुसे ब्रह्माका जन्म हुआ, जिनसे सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। नाथसे दो प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न हुई—नादरूपा और

बिन्दुरूपा। शिष्यक्रमसे नादरूपा हुई और पुत्रक्रम से बिन्दुरूपाका प्रसार हुआ। नादसे नौ नाथ प्रकट हुए तो बिन्दुसे सदाशिव भैरवका जन्म हुआ। शब्दसृष्टिका प्रकार कहते हैं—शब्दसेसृष्टि दो प्रकारका है—एक सूक्ष्मरूपिणी और दूसरी स्थूलरूपिणी। सूक्ष्मरूपिणी सृष्टि में प्रणव, महागायत्री और योगशास्त्रका समावेश है तथा स्थूलरूपिणी सृष्टि में ब्रह्मगायत्री और वेदत्रयी माने गये हैं। पुनः योग-शास्त्रसे तन्त्रशास्त्र प्रकट हुआ। वेदसे स्मृति आदि शास्त्रोंकी उत्पत्ति हुई। पुनः नाथोंके बाद बारह तथा चौरासी सिद्ध, बारह पंथ और असंख्य सिद्ध उत्पन्न हुए। सदाशिव भैरवसे विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र आदि देवताओंका प्रादुर्भाव हुआ। पुनः योगसे शेषयोग, सांख्ययोग आदि अनेक भेदोंवाले योगोंका प्रसार हुआ। उसी योगसे ज्योतिष और न्याय आदि शास्त्र प्रचलित हुए। श्रुतिसे स्मृतिशास्त्र, व्याकरण, पुराण, उपपुराण और अनेकों इतिहास प्रादुर्भूत हुए। इस प्रकार निवृत्ति-प्रवृत्तिरूपिणी विग्रहसृष्टि उत्पन्न हुई। पुनः नादसृष्टि भी सूक्ष्म और स्थूलरूपसे दो प्रकार की हो गयी।

मंगलश्लोक की व्याख्या

निर्गुणमिति। निर्गुणंब्रह्मवद् यस्य सर्वोपरिर्वविनाथस्य वामभागे एकव्यवहारे। वामभागेन कोऽर्थः? यथेतरं शास्त्रं कथयति। कश्चित् पुरुष ऊर्ध्वगति ब्रह्मपदं प्राप्तस्तदा कथ्यते निर्गुणस्य सर्वव्यापकस्यैक-रूपस्य ऊर्ध्वमध इति।

जो निर्गुण ब्रह्म है, वह सर्वोपरिवर्तमान नाथके वामभाग अर्थात् एक व्यवहारमें स्थित है। वामभागसे क्या अभिप्राय है? उसे बतलाते हैं—जैसा अन्य शास्त्र कहता है कि जब कोई ऊर्ध्वगतिक पुरुष ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है, तब कहा जाता है कि सर्वव्यापक एकरूप निर्गुण ब्रह्मका यह ऊर्ध्वभाग अथवा अधोभाग है।

भागकल्पना कुत्र कस्यां वा दिशि कुतो वा वाग्रचना। तथा च कल्पनां विना व्यवहारो न सिद्धयेत्। तया रीत्या निर्गुणं वामभाग इति। तस्य साक्षात्स्वरूपस्य एकभाग एकव्यवहारे निर्गुणम्। पुनः सव्यभागेऽद्भुता निजा च इच्छाशक्तिः सर्वसाकारब्रह्मकारणीभूता सव्यभागे एकभागे एकव्यवहार इत्यर्थः। सगुणब्रह्ममूलभूता सा यस्येति। पुनर्मध्य-भागे सर्वस्याधारो वा सर्वशिरोमणिर्यत्र निर्गुणसगुणमुभयमपि चैक्यं

प्राप्नोति सत्यमसत्यं जडं चैतन्यं च सर्वमपि भावजात यत्र साम्यं प्राप्नोति द्वैताद्वैतभेदो यत्र दूरीभवति। यदेतादृशः सर्वोपरिवर्त्ती वाङ्मनोगोचरो वाङ्मनोमयश्च द्वैताद्वैतविवर्जितः। पुनर्यादृश एव तादृश एवेति सर्वविलक्षण एवैतादृशो नाथो महासिद्धानां लक्ष्यः पूर्णः स मम श्रियेऽस्तु कल्याणं करोतु। मोक्षमार्गे दक्षभागतो वामभाग उत्तमोऽस्ति तस्माद्वाम-भागे निर्गुणमुक्तम्। पुनर्जीवाः सगुणा द्वैतरूपास्ते च बन्धरूपास्ते तु यस्य नाथस्य नखाग्रे रमन्ति। पुनर्निर्गुणास्तत्त्वरूपा अद्वैतरूपा मुक्तास्ते चर-णाग्रे रमन्ते, एतद्द्वयं तु व्यावहारिकं दर्शितम्। तत्तु कल्पनामात्रमेवेति, वास्तविकं तु बन्धमुक्तिरहितमिति। तत्त्वानुभाविकास्ते मुक्ता नाथस्य सर्वपिण्डे रमन्तीति किं नाथरूप एव न त्वन्ये। अग्र उक्तं वामभागे स्थितः शम्भुर्योनिर्गुणस्य ब्रह्मणोंऽशरूपः साकारतया संसारकल्याणार्थं जातः स शिवो वामभागे। सव्ये विष्णुस्तथैव। योऽद्भुता निजा इच्छाशक्ति-स्तस्या अंशेन जातः साकारः स विष्णुः संसारप्रवृत्त्यर्थं यस्य सव्यभागे। पुनर्मध्यभागे स्वयं पूर्णो निर्गुणसगुणातीतः सर्वशिरोमणिर्नाथस्तस्य यः साकाररूपो नाथो मध्यभागे स नाथो ज्योतीरूपो मम हृदयान्धकारनिवर्तनं करोतु।

यह भागकल्पना कहाँ अथवा किस दिशामें उत्पन्न हुई तथा वाग् रचना कहाँसे आयी? कल्पनाके बिना व्यवहारकी सिद्धि नहीं होती, इसी कारण "निर्गुणं वाम भागे" ऐसा कहा गया है अर्थात् उस साक्षात् नाथस्वरूप के एक भाग अर्थात् एक व्यवहारमें निर्गुण स्थित है। पुनः "सव्यभागेऽद्भुता निजा" अर्थात् सम्पूर्ण साकार ब्रह्मकी कारणीभूता इच्छाशक्ति दक्षिणभाग—एक भाग अर्थात् एकव्यवहारमें स्थित है। वह सगुण ब्रह्मकी मूलभूता है। पुनः मध्यभाग में जो सबके आधार अथवा सर्वशिरोमणि हैं, जहाँ निर्गुण और सगुण दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, जहाँ सत्य-असत्य, जड-चैतन्य आदि सभी भावसमूह समताको प्राप्त हो जाते हैं, जहाँ द्वैत और अद्वैतका भेद नष्ट हो जाता है, जो इस प्रकार सर्वोपरिवर्ती, वाङ्मनोगोचर, वाङ्मनोमय और द्वैताद्वैतसे रहित हैं तथा जैसे-तैसे ही सर्वविलक्षण एवं महासिद्धोंके लक्ष्य हैं, वे पूर्णनाथ विराजित हैं। वे मेरी श्री-वृद्धि के कारण हों अर्थात् कल्याण करें। मोक्षमार्गमें दाहिने भागसे वामभागको उत्तम माना जाता है, इसी कारण 'वामभागे निर्गुणम्' ऐसा कहा गया है। पुनः जीव, जो सगुण, द्वैतरूप और बन्धनरूप हैं, नाथके नखाग्रमें रमण करते हैं, पुनः जो निर्गुण तत्त्वरूप, अद्वैतरूप और मुक्त हैं, वे चरण के अग्रभाग

में रमण करते हैं, ये दोनों व्यावहारिकरूपसे दिखाये गये हैं, जो कल्पनामात्र ही हैं, वास्तविक तो बन्ध-मुक्तिरहित ही हैं। जो तत्त्व का अनुभव करनेवाले मुक्त जीव हैं, वे नाथके सम्पूर्ण शरीरमें रमण करते हैं। यहाँ तक कि वे नाथरूप ही हो जाते हैं, अन्य नहीं रह जाते। आगे कहा गया है—'वामभागे स्थितः शम्भुः' अर्थात् जो निर्गुण ब्रह्मके अंशरूप हैं और संसारका कल्याण करनेके लिये साकार-रूपसे प्रकट हुए हैं, वे शिव वामभाग में स्थित हैं। "सव्ये विष्णुस्तथैव" अर्थात् जो संसारका पालन करनेके हेतु ब्रह्मकी अद्भुता निजा इच्छाशक्तिके अंश से साकाररूप में प्रकट हुए हैं, वे विष्णु जिसके दाहिने भागमें स्थित हैं। पुनः "मध्यभागे स्वयं पूर्णः" अर्थात् जो निर्गुण और सगुणसे परे एवं सर्वशिरोमणि पूर्ण नाथ हैं, उनके जो साकाररूप नाथ हैं, वे मध्यभाग में हैं। वे ज्योतिःस्वरूप नाथ मेरे हृदयके अन्धकारको दूर करें।

विश्वस्योत्पत्तिं करोति स्वस्याप्युत्पत्तिं कथयति। एवं ब्रह्मण इच्छया पुरुषो जातः स नर इति। तेन तपस्तप्तं नरशरीराज्जलानि नारा इति जातास्तत्र तेन शयनं कृतं तेन नारायण इति संज्ञको जातः। पुनरस्यैवावान्तररूपाणि रामकृष्णादीनि जातानि तेषामपि रामनवमी-जन्माष्टमीत्यादि जन्मकर्मोत्सवा इति मन्यन्ते। तथा च य उत्पत्तिमान् स नाशवान् पुनर्यत्र लोके गतास्ते पुनरायान्ति। कथम् ? जयविजयौ शापादसुरौ जातौ तर्हि तेषां स्थानं निर्भयं कथम् ? अथ च विश्वस्योत्पत्तिकारणमेवोक्तं तेनैव ज्ञायतेऽन्यदेवापेक्षया संसारापेक्षया च सर्वोत्तमः शिव एव, परन्तु स्वस्मात्तु निकृष्ट एवेति कृत्वा मङ्गलं तु नाथात्मकमेव कृतम्। आदिनाथो गोरक्षनाथश्चांशांशिभावेन वा स्वयमेक एव, परन्तु व्यवहारार्थमङ्गाङ्गिभावेन सेव्यसेवकभावेन नाथात्मकमेव मङ्गलं कृतम्। तेनैवं सूचितं सर्वस्मादुत्तमः शिवः शिवादुत्तमो नाथ इति। योगे देवानामथ च संसारे सर्वोत्तमो नाथ इति संकेतरीत्या। नाथस्योत्पत्तिरेव योगशास्त्रे न कथिता, यतो जन्मकर्मापि न गीयतेऽत एव सिद्धसिद्धान्त-पद्धतौ श्रीगोरक्षनाथेन विश्वस्य कर्तृत्वं शिवस्य लिखितं नाथस्य तु न लिखितम्। कथम् ? विश्वकरणे सगुणत्वमायाति, सोपाधीश्वरत्वं चायाति नाथस्तु निर्गुण एव निरुपाधिरूप एव, तस्य प्राकृतिककार्यकरणेन किं माहात्म्यं किं वा श्रीरिति। यदि पुनः शिव एव मुख्यो देवो भवेत्तर्हि मङ्गलं शिवात्मकं किमर्थं न कृतम्, एवंरीत्या कथनमहासिद्धानां सिद्धान्तो वर्तते न तु स्थूलरीत्या। प्रवृत्तिरीत्या कथनरीतिः।

जो विश्वकी उत्पत्ति करता है, वह अपनी भी उत्पत्ति करता है, इस प्रकार ब्रह्मकी इच्छासे जो पुरुष उत्पन्न हुआ, वह नर कहलाया। उसने तपस्या की, तब उस नरके शरीरसे जल प्रकट हुआ, जो नार कहलाया। उस जलमें उस पुरुषने शयन किया, इस कारण वह "नारायण" नामसे विख्यात हुआ। पुनः इसीके अवान्तररूप राम-कृष्ण आदि प्रकट हुए। उनके भी रामनवमी-जन्माष्टमी आदि जन्मकर्मोत्सव मनाये जाते हैं तथा जो उत्पत्तिवाला होता है, उसका नाश भी निश्चित है। पुनः जो उस लोकमें जाते हैं, वे पुनः लौटकर आते हैं, क्योंकि जय-विजय शापके कारण असुर हो गये थे, ऐसी दशामें उनके स्थानको निर्भय–निरापद किस तरह कहा जा सकता है?अब जो विश्वकी उत्पत्तिका कारण बतलाया गया है, उससे ऐसा ज्ञात होता है कि अन्य देवताओंकी अपेक्षा और संसारकी अपेक्षा शिव ही सर्वश्रेष्ठ हैं, परन्तु उन्हें अपनेसे निकृष्ट ही मानकर ग्रन्थकर्ताने नाथात्मक ही मङ्गलाचरण किया है। यद्यपि आदिनाथ और गोरक्षनाथ अंशांशिभावसे स्वयं एक ही हैं, तथापि व्यवहारके लिये अङ्गाङ्गी भाव अथवा सेव्यसेवकभावसे नाथात्मक ही मङ्गलाचरण किया है। इससे ऐसा सूचित होता है कि सबसे श्रेष्ठ शिव हैं और शिवसे श्रेष्ठ नाथ हैं। इस संकेतके अनुसार प्रतीत होता है कि योगमार्ग तथा संसारमें नाथ ही सम्पूर्ण देवताओंमें श्रेष्ठ हैं, इसीलिये योगशास्त्रमें नाथकी उत्पत्ति ही नहीं बतलायी गयी। इसी हेतु उनके जन्म-कर्मका भी वर्णन नहीं है। इसीलिये सिद्धसिद्धान्तपद्धतिमें श्रीगोरक्षनाथने शिवको ही विश्वका कर्ता बतलाया है, नाथको नहीं लिखा है; क्योंकि विश्वकी सृष्टि करनेमें सगुणत्व ही प्रधान हो गया है और सोपाधीश्वरत्व भी आ जाता है, किंतु नाथ तो निर्गुण और निरुपाधिरूप ही हैं। ऐसी दशामें प्रकृतिका कार्य करनेसे उनका क्या महत्त्व रह जायगा अथवा क्या शोभा होगी। पुनः यदि शिव ही मुख्य देवता होते तो मङ्गलाचरण शिवात्मक क्यों नहीं किया गया। इस प्रकारका कथन ही महासिद्धोंके सिद्धान्तको दृढ़ करता है, स्थूलरीतिसे कहनेसे नहीं होता। प्रवृत्तिरीतिसे ही कहनेका ढंग है।

नाथ-मत में श्रुतिसाधिका है या नहीं

कथमेते तु निर्गुणा ऐश्वर्यं बहुधा गुप्तं कुर्वन्ति, अन्ये त्वैश्वर्यं प्रकटीकुर्वन्ति। अहो अहो विपरीता वार्ता तस्याः श्रवणेऽपि ज्ञानेऽपि चाप्रियं भवति। अस्मिन्मते श्रुतिर्न साधिका वेति वार्ता। श्रुतिश्चास्माकं मते साधिका न भवेत्, भवेदपि चेत्तर्हि मेरुः कम्पते पृथ्वी चलति ?

आकाशात्सर्वं जायते तत्तु पृथिव्या एव सर्वं जायते पितुः पुत्रो जायते स पिता पुत्राज्जायते चैवं सर्वमपि कार्यं विपरीतरीत्या भवेत्। यत एवं न वक्तव्यं यन्महासिद्धानां तात्पर्यं तदेव श्रुतिर्वक्तुमिच्छतीत्यूद्ध्वंबाहुर्ध्वनिं चिकीर्षति, परन्तु नानाकर्मनिरूपणात्तत्वस्याप्यन्यथा कथनात् सूक्ष्मात्स्थूलरूपनिरूपणात्पातकिनी जाता भाराक्रान्ता च जाता तेन तत्तात्पर्यं वक्तुं न शक्यते। यदि किंचिद् वक्तुं शक्यते तन्महासि नां तात्पर्यमेव वदेत्। या श्रुतिः प्रणवानुसारिणी सा त्वस्माकं मतानुसारिण्येव, या च प्रणवविरोधिनी श्रुतिः कर्मज्ञानप्रतिपादिका सास्माकं मतानुयायिनी मा भवतु नाम, किन्तु सूक्ष्मस्थूलस्य निरूपणम्। प्रथमत उक्तं श्रुतिरस्माकं मते साधिका न साधिकेति द्वयमपि न स्यादिति। कथम्? तदाह न साधिका भवेत्तत्त्वेवमस्माकं तु प्रयोजनमेव नास्ति, कथम्? वयंन्तु महावेदयोगमाश्रितास्तेन च न कस्याप्यपेक्षां कुर्मः परन्तु येषां मते स्थूलवेदाः परमपदार्था इति मन्यन्ते ते च यदि साधका न भवेयुस्तदास्माकं मते दूषणारोपणं कुर्वन्ति, यथा स्त्रीजनो मुनीन् प्रति कथयति—भो मुने! भवान् सकाम इति। एवं कथयन्मुनीनां तु सकामत्वं दूषणमेव परन्तु तस्य त्विष्टमेवेति कृत्वा मनसा तु मुनिस्तुष्यत्येव परन्तु तदभिप्रायेण यो बाह्यवृत्त्यातुष्ट एव भवेत्। कथम्? यस्य यदि भंगः क्रियते तदा तु तस्योपयुक्तवार्ताकरणं विना यो भूषणोऽपि दूषणमारोपयति। यतो हेतोर्न साधिकेत्युक्तं तद्वर्जनं चैतद्रीत्येति।

ये निर्गुणलोग अपने ऐश्वर्यको बहुधा गुप्त क्यों रखते हैं, अन्य लोग तो अपने ऐश्वर्यको प्रकट कर देते हैं? अहो! आश्चर्य है। यह तो विपरीत बात है, इसके सुनने और जाननेसे भी अनिष्ट होता है। इस मतमें श्रुति साधिका है या नहीं—ऐसी बात चलती है। हम लोगोंके मतमें श्रुति साधिका नहीं है। यदि होगी तो मेरु कम्पित हो जायगा और पृथ्वी चञ्चल हो जायगी। साथ ही सब कुछ आकाशसे उत्पन्न होता है, वह सब अब पृथ्वीसे ही उत्पन्न होगा एवं पितासे पुत्र उत्पन्न होता है, वह पिता अब पुत्रसे उत्पन्न होगा—इस प्रकार सारा कार्य विपरीत ढंगसे होने लगेगा। इसलिये ऐसा नहीं कहना चाहिये कि महासिद्धोंका जो तात्पर्य है, वही श्रुति कहना चाहती है और भुजाएँ ऊपर उठाकर उद्घोष करना चाहती है, क्योंकि अनेकविध कर्मोंका निरूपण करनेसे, तत्त्वको भी विपरीत ढंगसे कहनेसे और सूक्ष्मसे स्थूल रूपका निरूपण करनेसे वह पातकिनी हो गयी है एवं भारी भारसे आक्रान्त है, इस कारण उस तात्पर्यको कहनेमें समर्थ नहीं है। यदि

कुछ वर्णन कर सकती है तो वह महासिद्धोंके तात्पर्यको ही कहेगी। जो श्रुति प्रणवका अनुसरण करनेवाली है. वह तो हमारे मतकी ही अनुसारिणी है, तथा कर्म और ज्ञानका प्रतिपादन करनेवाली जो श्रुति प्रणवकी विरोधिनी है, वह हमारे मतका अनुगमन करनेवाली भी न हो, किंतु सूक्ष्म-स्थूलका निरूपण तो करती ही है। इसीलिये पहले ही कह आये हैं कि हमारे मतमें श्रुति-साधिका या असाधिका-दोनों ही नहीं है। किस तरह नहीं है, यह बतलाते हैं—वह साधिका न हो, ऐसा तो हमारा प्रयोजन ही नहीं है; क्योंकि हमलोग तो महादेवस्वरूप योगके आश्रित हैं, इस कारण किसीकी भी अपेक्षा नहीं करते, परन्तु जिनके मतमें स्थूल वेद ही परम पदार्थ माने जाते हैं, वे यदि साधक नहीं हुए तो हमारे मतपर दोषारोपण करते हैं। जिस तरह स्त्री-समूह मुनियोंके प्रति कहता है—"हे मुने! आप सकाम हैं।" ऐसा कहनेसे मुनियोंके लिये सकामत्व दूषण ही है, परन्तु उस स्त्रीसमूह के लिये तो इष्ट ही है। इस प्रकार उसका इष्ट-सम्पादन करके मुनि मनमें तो प्रसन्न होता है, किंतु उसके अभिप्रायके अनुसार वह बाहरी तौरपर अप्रसन्न ही होता है; क्योंकि जब जिसका संग किया जाता है, तब उसके उपयुक्त बातें करनी पड़ती हैं, न करने से जो भूषण है, वह भी दोषारोपण करने लगता है। इस कारण "साधिका नहीं है" ऐसा जो कहा गया है, उस निषेध-कथनको इस ढंगसे कहा हुआ समझना चाहिये।

पुनः साधकत्वे को वा दोष इति चेत्, कथ्यते-साधिकेतितुये कथयन्ति ते पुराणस्मृतिकिंकरा वयं तु स्थूलवेदानां पितृकारणस्य महावेदस्यानुसारिणो योगसिद्धान्तिनस्ते कथं तदाश्रिता भवेमेति रीत्या साधकत्वमपि वर्जितम्। तत्र कथ्यते तृतीया वार्तैव क्रियते तदा कथ्यते पूर्वमप्युक्तमेव वयं तु महावेदयोगानुसारिण इति। अथ च श्रुतिर्यद्वदति तदस्माकं महासिद्धानां यन्मतं तदेव वदति, सकलाया अपि श्रुतेस्तात्पर्यं प्रणवयोगपरमेव तथा च याः श्रुतयः प्रणवानुसारिण्यस्तास्तु योगमेव वदन्तिये च ये च श्रुत्यनुकूलास्ते ते प्रथममेव प्रयुक्ता इति। पुनः ब्रह्मवेदस्यैकोनविंशतिरुपनिषदो माण्डूक्यक्षुरिकाकैवल्यप्रभृतयः, छान्दोग्योबृहदारण्यमैत्रायण्यादयोऽन्यवेदस्यापि योगपरा एवैतास्तु सर्वाः प्रत्यक्षतः। पुनर्वेदवेदान्तादिः सर्वः परोक्षवादो यतो हेतोस्तात्पर्यं तात्पर्यं रक्षति, प्रत्यक्षतः। कथम्? तस्य तन्मर्यादा नास्ति यतो हेतोः कर्मोपासनां ज्ञानं च वर्णयति परन्तु क्रमतः सर्वस्य तात्पर्यं योग एवेति।

पुनः यदि कहा जाय कि साधिका होनेमें क्या दोष है तो बतलाते हैं—जो लोग श्रुतिको साधिका बतलाते हैं, वे तो पुराणों एवं स्मृतियोंके किंकर हैं और हमलोग स्थूल वेदोंके पितारूप महावेदका अनुसरण करनेवाले योगसिद्धान्ती हैं—ऐसी स्थितिमें हमलोग उसके आश्रित किस तरह हो सकते हैं। इस प्रकार साधिका होना भी निषिद्ध है। इसपर कहते हैं कि कोई तीसरी ही बात की जाय, तब उत्तर देते हैं कि यह तो हमने पहले ही कह दिया है कि हमलोग महावेदस्वरूप योगके अनुगामी हैं। इस प्रकार श्रुति जो कुछ कहती है, वह हम महासिद्धोंका जो मत है, वही कहती है। सम्पूर्ण श्रुतिका तात्पर्य प्रणवयोगपरक ही है। इस प्रकार जो श्रुतियाँ प्रणवका अनुसरण करनेवाली हैं, वे तो योगका ही वर्णन करती हैं और जो-जो श्रुतिके अनुकूल हैं, उन्हें पहले ही कह दिया गया। पुनः ब्रह्मवेदके माण्डूक्य, क्षुरिका, कैवल्य आदि उन्तीस उपनिषदें हैं और अन्य वेदोंके भी छान्दोग्य, बृहदारण्यक, मैत्रायणी आदि उपनिषदें हैं। ये सभी प्रत्यक्ष रूपसे योगपरक हैं। पुनः वेद वेदान्त आदि सभी परोक्षवाद हैं क्योंकि वह प्रत्यक्ष-रूपसे तात्पर्यमें तात्पर्यकी रक्षा करता है। यद्यपि यह उसकी मर्यादा नहीं है; क्योंकि वह कर्मोपासना और ज्ञानका वर्णन करता है परन्तु क्रमशः सबका तात्पर्य योग ही है।

साम्प्रदायिक ग्रन्थोंकी अनुपयोगिता

कैश्चित्कथ्यते ब्रह्मा विश्वं सृजति, विष्णुः पालयति, रुद्रः संहरति स त्वनुक्रमो नास्ति, योगस्य त्वनुक्रमो यो वर्तते स प्रथममुक्त एव, यदि चैतेषामेवानुक्रमो रक्षितव्यस्तदा त्वयमपि चानुक्रमो व्यतिक्रम एव यदा भवेत्तदा कं त्वनुक्रमं करिष्यामि कथम् ? 'अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः' इत्यादी तेषां मध्ये भोक्ता तु रुद्र एवोक्तः स एव बलिष्ठ एवो तु भोज्यमिति। तथैव रुद्रः संहरतीत्यत्र महाप्राबल्येन नैर्गुण्येन नित्यमुक्तस्वरूपेण च तद्दोषाधारको न भवति तदन्यौ तु गुणपर्यवसानौ गुणावधीयन एतत्कार्यकरणं तद्बाधकमेव भवति।

कुछ लोग कहते हैं कि ब्रह्मा विश्वकी सृष्टि करते हैं, विष्णु उसका पालन करते हैं और रुद्र संहार करते हैं, किंतु यह अनुक्रम नहीं है। योगका जो अनुक्रम है, वह पहले ही कह दिया गया है। यदि इनके अनुक्रमका ही पालन करना है तो वह अनुक्रम भी व्यतिक्रम ही है। जब यह भी व्यतिक्रम है, तब किसे अनुक्रम

मानेंगे; क्योंकि ब्रह्मा अन्न हैं, विष्णु रस हैं और महेश्वरदेव भोक्ता हैं। यहाँ तीनों देवोंमें रुद्र ही भोक्ता कहे गये हैं, अतः वे ही सबसे बली हैं और ये दोनों उनके भोज्य हैं। इसी प्रकार 'रुद्रः संहरति',—रुद्र संहार करते हैं. इसमें महती प्रबलता, निर्गुणता और नित्यमुक्तस्वरूपता होनेके कारण उन्हें वह दोष नहीं लगता, परन्तु वे दोनों गुण पर्यवसायी हैं और गुणमें ही स्थित रहते हैं, अतः यह कार्य उनके लिये बाधक ही है।

पुनरस्य विचारस्य वार्ताबहुस्यस्तास्त्वग्रे वक्ष्यन्त इति.सर्वे सम्प्रदायाः कथयन्ति सहस्रशो ग्रन्था जाता इति, तान्प्रति मया कथ्यते – यदि ममोपदेशो मन्यते तर्हि सर्वे ग्रन्थाः कूपे निपात्यताम् । कथम् ? आधुनिकसमये स्वयमपि मुक्ता न भवन्ति ते ह्यन्येषां मोक्षोपदेशे कथं समर्था भवेयुर्यत-श्चातुर्यार्थमभिमानार्थं च जीविकार्थंव्यसनार्थं च यस्य कस्याप्यभिलाषार्थं यच्छशास्त्रं करोति,तत्परमार्थिकपुरुषाणामग्रे कथं शोभनीयं भवेत्, यदुक्तं श्रीगोरक्षनाथेन—शिलया किं परं पारमित्यादि । अतः कारणादाधुनिका अयुक्तपुरुषास्तैः कृतानि सहस्रशः शास्त्राणि तानि त्याज्यानि, एतच्छास्त्र-स्याभिमानो भवद्भिर्न रक्षणीय इति।

पुनः इस विषयकी बहुत-सी बातें हैं, उन्हें आगे कहेंगे। सभी सम्प्रदाय कहते हैं कि हजारों ग्रन्थ हो गये। उनसे मैं कहता हूँ कि यदि वे मेरा उपदेश मानें तो सभी ग्रन्थोंको कुएँमें फेंक दें; क्योंकि आधुनिक समयमें जो स्वयं ही मुक्त नहीं हैं, वे दूसरोंको मोक्षका उपदेश देनेमें किस तरह समर्थ हो सकते हैं, इसलिये वे निपुणताप्रदर्शन, अभिमान, जीविकोपार्जन, व्यसन अथवा जिस-किसी भी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये जिस शास्त्र की रचना करते हैं, वह पारमार्थिक पुरुषोंके समक्ष किस तरह शोभनीय हो सकता है। इसीलिये श्रीगोरक्षनाथने कहा है— 'शिलया किं परं पारम्' आदि अर्थात् पत्थरकी नौका क्या उस पार ले जा सकती है? इस कारण आधुनिक पुरुष अयुक्त हैं. इसलिये उनके द्वारा रचित जो शास्त्र हैं, वे त्याज्य हैं, ऐसे शास्त्रका अभिमान आपलोगोंको नहीं करना चाहिये।

परमहंस-धर्मकी प्रशंसा

शंकरसम्प्रदाये विद्यारण्यस्त्यागी जातः पश्चाद्वेदभाष्यं कृत तदनन्तरं काशीं गत्वा कस्यापि पण्डितस्याग्रे स्वकृतभाष्यवार्ता कृता, तदा तेन स निन्दितः। कथं त्यागी भूत्वा पुनरपि व्यवहार उद्युक्तः?

तदा पुनः परमहंसेनोक्तम् मदीयः श्रमस्त्ववलोकनीय इति। यदा पण्डितेन दृष्टवा शुद्धिबाहुल्यमित्युक्तं तदा परमहंसे विरागो जातः। पुनः कदाचिद्वनभ्रमणे कस्यचित् प्रेतस्य कृपया व्यासमिलनं जातम्। तेन भाष्यं कमण्डलीधृत्वाशुद्धिदूरीकृता, इति वार्त्ता प्रसिद्धा। पुनः कौमुदीकारो भट्टाजिदीक्षितः, सोऽपि प्रेतत्वं गतः, पुनर्वैष्णवसम्प्रदाये ताताचार्येणाप्यय्यदीक्षितोपरि कोऽपि अभिचारः संचारितः, स तु तेन शिवभक्तेन शिवस्मरणे कृते तस्यैव मरणाय जातः। एवं यदा, तदा मया कथ्यते यादृशानि प्रेतरूपैः प्रेतप्रसादाभिलाषिभिः पुरुषैः कृतानि शास्त्राणि मोक्षाय कथं भवेयुरित्यतः कारणात् महासिद्धानां मते विद्याभ्यासेन कोऽपि ग्रन्थं न करोति किंतु योगाभ्यासेन सिद्धो भूत्वा सिद्धत्वेन च शास्त्रं करोति, स स्वयमपि मुक्तोऽन्येषामपि मुक्तिं ददातीति सिद्धान्त इति। ग्रन्थस्य प्रकरणबन्धनमादिरन्तोऽपि च न क्रियते। कथम्? इयमप्याशैव भवति नियमश्च भवति ज्ञाने तु क्षणस्यापि नास्ति तर्ह्यं तावत् संकल्पः क्रियेत तस्याप्यहंकारविलसितत्वात्तद्रूपमपि कर्मैव लीनं भवेत्। पुनः क्षणेन मरणे सत्यन्यत्कार्यं, तावन्मात्रस्तु बन्धो जात एव यस्माद्यत आरम्भः कृतः स एवादिर्यन्न कृतं तत्रैव समाप्तिः। स्वतन्त्राणां पुरुषाणां क्षणमात्रमपि बन्धनं प्रियं न भवेत्। पुनः संस्कृतो वर्तते। सोऽप्यघटितपदार्थस्तु नास्ति सर्वव्यापकोऽपि नास्ति। कथम्? स्वभावकर्मापि नास्ति। यदा शिष्यते तदायाति। पुनर्यश्च शब्दः सोऽघटितोऽस्ति, विनापि शिक्षां यत आयाति स मद्व्यापको नास्ति यत्परात्परमघटितस्वरूपं तथैव तदंश एष शब्द एवादिघटितो दृश्यते स एव ग्राह्य इति। अतः कारणादेव श्रीनाथेन शब्दमयी गिरेति कृत्वा सर्वाभिरपि गिराभिः सर्वाणि शास्त्राणि कृतानि, सा च संस्कृतप्राकृतनागरमागधीभाषाभिरथ च यवनभाषापर्यन्ताभिरपि यत एतेन व्यवहारे तु सर्वज्ञत्वं सूचितं सिद्धान्ते शब्द एव मुख्य इति सूचितम्। योऽघटितपदार्थो विशेषव्यापकः स एव न तु संस्कृतो वा अन्योऽपि यः कश्चिदेकः सांकेतिकभाषाशब्दः स एव सिद्धान्त इति न किन्तु शब्द एव सिद्धान्त इति, शब्दे ब्रह्मणि शुद्धत्वाशुद्धत्वेन स्वान्यक्तलिंगोपर्येव तात्पर्यमिति यतस्तत्प्रकारेण सर्वमेकपदादेव चिन्तनीयम्। यदा देवश्चिन्तनीयस्तदा तेषां शस्त्रपठनेनापि किम्? तदुक्तं भर्तृहरिणा—

शंकर-सम्प्रदायमें विद्यारण्य नामके एक त्यागी हुए, बाद में उन्होंने वेदभाष्यकी रचना की। उसके बाद काशी जाकर जब उन्होंने किसी पण्डितके सामने

अपनेद्वारा रचे हुए भाष्यकी चर्चा की, तब उस पण्डितने उनकी निन्दा करते हुए कहा—त्यागी होकर फिर भी आप इस व्यवहारमें कैसे लग गये? तब परमहंसने पुनः कहा—'मेरे परिश्रमकी ओर तो दृष्टि डालिये?' जब पण्डितने उसे देखकर ऐसा कहा कि इसमें बहुत-सी अशुद्धियाँ हैं, तब परमहंसमें वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसके बाद एक समय वनमें भ्रमण करते समय किसी प्रेतकी कृपासे उनका व्याससे सम्पर्क हो गया। तब व्यासने उस भाष्यको अपने कमण्डलुमें रखकर उसकी अशुद्धियाँ निकाल दीं—ऐसी वार्ता प्रसिद्ध है। पुनः कौमुदीके रचयिता भट्टोजी दीक्षित हुए, वे भी प्रेतभावको प्राप्त हुए। पुनः वैष्णव-सम्प्रदायमें ताताचार्यद्वारा अप्पय्यदीक्षितके ऊपर कोई अभिचार चलाया गया, उन शिव-भक्त दीक्षितद्वारा शिवका स्मरण किये जानेपर वह अभिचार ताताचार्यकी ही मृत्युका कारण बना। जब ऐसी बात है, तभी मैं कहता हूँ कि प्रेतरूपों एवं प्रेत-कृपाके अभिलाषी पुरुषोंद्वारा रचे हुए ऐसे शास्त्र मोक्षके लिये किस तरह उपयुक्त होंगे। इसी कारण महासिद्धोंके मतमें विद्याभ्यासके बलपर कोई ग्रन्थ-रचना नहीं करता, किंतु योगाभ्याससे सिद्ध हो जानेपर सिद्धत्वके बलपर शास्त्र-रचना करते हैं, उस समय वे स्वयं भी मुक्त होते हैं और दूसरोंको भी मुक्ति प्रदान करते हैं, यही सिद्धान्त है। वे ग्रन्थका प्रकरण-बन्धन आदि और अन्त भी नहीं करते; क्योंकि इसमें भी आशा होती है और नियम होता है। ज्ञानमें तो क्षणमात्रका भी अस्तित्व नहीं है, तब ऐसा संकल्प करते हैं, उस संकल्पके अहंकारयुक्त होनेके कारण तद्रूप ही कर्म होता है। पुनः दूसरे क्षण मृत्यु हो जानेपर दूसरा कार्य प्रारम्भ हो गया, अतः जहाँतक हुआ था, उतना ही बन्ध हो गया, इसलिये जहाँसे आरम्भ किया था, वहीं आदि है और जो नहीं किया, वहाँ समाप्ति है। स्वतन्त्र पुरुषोंके लिये क्षणमात्रका भी बन्धन प्रिय नहीं होता। पुनः संस्कृत भाषाका प्रसंग उपस्थित है। वह भी अघटितपदार्थ नहीं है, सर्वव्यापक भी नहीं है और स्वभावकर्मा-स्वभाववश किया गया कर्मप्रेरित भी नहीं है, कभी शेष रहता है और कभी आता है। पुनः जो शब्द है, वह अघटित है; क्योंकि वह शिक्षाके बिना भी आता है, अतः वह व्यापक नहीं है तथा जो परात्पर एवं अघटितस्वरूप है, उसी प्रकार उसका अंशभूत यह शब्द भी आदिघटित दिखायी पड़ता है, अतः वही ग्राह्य है। इसी कारण श्रीनाथने वाणीको शब्दमयी बनाकर सभी वाणियों—भाषाओंद्वारा सभी प्रकारके शास्त्रोंकी रचना की है। वह शब्दमयी गिरा संस्कृत, प्राकृत, नागर, मागधी आदि भाषाओंसे, यहाँतक कि यावनीय भाषाओंतकसे संयुक्त है। इससे व्यवहारमें सर्वज्ञत्व और सिद्धान्तमें शब्द ही मुख्य है, यह

सूचित होता है। जो अघटित पदार्थ है, वही विशेष व्यापक है, संस्कृत अथवा अन्य किसी भी सांकेतिक भाषाका शब्द व्यापक नहीं है--ऐसा ही सिद्धान्त है, यह बात नहीं है, अपितु शब्द ही सिद्धान्त है। शब्द–ब्रह्ममें शुद्धत्व और अशुद्धत्व के वर्तमान रहनेके कारण उसका अपने अव्यक्त लिंगके ऊपर ही तात्पर्य निश्चित रहता है, अतः उसी प्रकार एक पदसे ही सबकी चिन्तना करनी चाहिये। जब देवताका ध्यान करना है, तब तत्सम्बन्धी शास्त्रोंके पठनसे क्या लाभ है ? इसीलिये भर्तृहरिने कहा है--

तार्किका घटपटेति रटेयुः शाब्दिकाः खफछठेति पठेयुः।
मादृशां तु सततं स्मरणीयौ चन्द्रचूडचरणौ रमणीयौ ॥ इति ॥

नैयायिक "घट-पट" की रट लगाते रहें और शब्दशास्त्रके ज्ञाता वैयाकरण "खफछठथ" आदिका पाठ करते रहें, परन्तु मुझ-जैसे लोगोंको भगवान् चन्द्रचूड (शिव) के रमणीय चरणों का ही ध्यान करना चाहिये।

पुनरवधूतेषु कैश्चिद्दोषारोपणं क्रियते निश्चितं तथा कुर्वन्तु नाम, ततो नावधूतानां मनोविकारस्तदुक्तं भर्तृहरिणा—

पुनः कुछ लोग अवधूतोंपर दोषारोपण करते हैं, वे निश्चित रूपसे वैसा करते रहें; क्योंकि उससे अवधूतोंके मनमें कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। इसी बातको भर्तृहरिने इस प्रकार कहा है--

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः
किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम्।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः सम्भाष्यमाणा जनै
र्नो क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो गच्छन्ति ते योगिनः॥
(वैराग्यशतक ५४)

(मार्गमें जाते हुए अवधूतको देखकर लोग कहते हैं—) क्या यह मनुष्य चाण्डाल है अथवा कोई द्विजाति— ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य है, अथवा क्या यह शूद्र है या तपस्वी है अथवा क्या कोई तत्त्वज्ञानमें कुशल बुद्धिवाला योगीश्वर है। इस प्रकारकी निकलती हुई तरह-तरहकी बातें कहनेवाले लोगोंद्वारा रास्तेमें कहे जानेपर भी अवधूत योगी न क्रुद्ध होते हैं और न प्रसन्नमन ही होते हैं, अपितु वे स्वयं अपनी राह चले जाते हैं।

गालिप्रदानेऽपि नावधूतानां क्रोधादिरिति भर्तृहरिणोक्तमेव—

भर्तृहरिने यह भी कहा है कि गाली देनेपर भी अवधूतोंके मनमें क्रोध आदि नहीं होता—

ददतु ददतु गालीर्गालिमन्तो भवन्तो
वयमिह तदभावाद्गालिदानेऽप्यशक्ताः।
जगति विदितमेतद्दीयते विद्यमानं
न हि शशकविषाणं दीयते यद्वदान्यैः॥

"आपलोग गालियोंके धनी हैं, अतः गालियाँ दीजिये, भले ही दीजिये। परन्तु हमारे पास उसका अभाव है, इसलिये हम गाली देनेमें भी असमर्थ हैं; क्योंकि जगत्‌में यह विख्यात ही है कि जिसके पास जो वस्तु होती है, वह वही देता है। इसीलिये उदार-दाता खरगोशके सींगका दान नहीं देते।" (खरगोशके सींग होते ही नहीं हैं।)

पुनः क्रोधो न क्रियते, इदमपि नास्ति। कथम्? अक्रोधस्तु परमहंसानां धर्मः, पुनः क्रोधकरणमिति गृहस्थानां धर्मः। अस्माकं तु द्वयमपि धर्म एवेत्यत एव—

फिर अवधूत क्रोध नहीं करते, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि क्रोध न करना तो परमहंसोंका धर्म है और क्रोध करना गृहस्थोंका धर्म है। अतएव हम लोगोंका तो दोनों ही धर्म है। (इस विषयपर दृष्टान्त उपस्थित करते हैं—)

एकदा भर्तृहरिः स्वेच्छया सिद्धस्वरूपः कापोतीमाश्रित्य पण्यवीथिकायां कणानादाय चर्वन्नृपतिना विक्रमार्केण दृष्टः स ज्येष्ठो भ्रातैव तदापि सिद्धरूपस्तेनाज्ञातो यत उक्तम्—अहो अस्यापि जननी ययैवादृशः पुरुषो जनितो यश्च स्वोदरभरणेऽप्यसमर्थ इति तच्छ्रुत्वा किमुक्तं सिद्धेन—अहो तस्यापि जननीं धिक् यः समर्थोऽपि परोपकरणेऽसमर्थ इति। यदा चैवं विवेकवचनं श्रुत्वा राजा महान् विचक्षणः स्वकीय ज्येष्ठभ्रातरं परमं पुरुषं ज्ञात्वा स्वतः शीघ्रमेवावतीर्य तच्चरणे पतितस्तदा श्रीभर्तृहरिणोपदेशो दत्तस्तदनन्तरं परोपकारकरणे नृपतिः प्रवृत्तास्तेन च महाप्रतापवाञ्जातः। ततः कथ्यते महासिद्धा अकामिनोऽप्यक्रोधिनो जिताहंकारास्ते वचनसहनं कथं न कुर्वन्ति, परन्तु परमहंसरीत्येमे तु

परमहंसा न सन्ति, गृहस्थोऽपि न सन्ति, यथा काक उलूक इति। तयोरेकस्तु दिन एव पश्यति तदन्यो रात्रावेव पश्यतीमे तु योगिनो यौगिकपरमहंसा मराला दृष्टिद्वयेनापि पश्यन्तो मुक्तिमुक्ताफलं गृह्णन्ति शिवशक्त्योर्द्वयमपि चैकीकृत्य चरन्ति तेऽवधूतयोगिनो भवन्तीति सिद्धान्तेन सर्वदा रमन्ते। गृहस्थः क्रोध एवासक्तः परमहंसश्चाक्रोध एवासक्तो यत एवयोरेकैकस्मिल्लोकेऽवज्ञा भवेत्। गृहस्थस्य क्रोधादिकरणे परो लोको न सिध्येत्। परमहंसस्याक्रोधादिसेवनेनेहलोके सुखं न स्यात्। एते तु परमहंसाधिकाः क्रोधालोकदृष्टिगोचरा इतिकृत्यालौकिकसेवनादयं लोकोऽपि रक्षतेऽक्रोधादिना परलोकोऽपि साध्यते। परमावस्थायां भेदाभेदपरे द्वैताद्वैतपरे न कोऽप्यय लोको न कोऽपि परो लोकोऽयं तु तेषां परमः सिद्धान्त इति।

वैदिकः स्मार्तस्तु कुमारीकन्या यस्योपरि चित्तमासज्येत तमेव वृणोति। अवधूतः परमहंसः शैवः शाक्तो वा यः कश्चित् स कथमिष्टो मुख्यतया न मतो यदि मुख्यतया मतो भवेत्तदा परिणीतः स्यात्। यदा ये तूपरिलिखितास्तेषां वेष आश्रितो भवेत्। पुनरन्यस्येष्टोऽन्यस्य पतिनं भवेत्, तदा स भ्रष्ट एव स्यात्। यथा पुरुषः कोऽपि यवनो भवेत्तदा केन वार्यते। पतञ्जलिना शास्त्राणि त्रीणि कृतानि। योगसूत्रं, व्याकरणभाष्यं, वैदि (द्य) कशास्त्रमिति। तेन तच्छिष्याः प्रशंसां कुर्वन्ति—अस्माकं गुरुणा शास्त्रत्रयेण त्रयाणां दोषा जिताः, योगेन मनसो मालिन्यम्, व्याकरणेन वाङ्मालिन्यमशुद्धता, वैदि (द्य) केन शरीरमालिन्यमामपतेति यदावधूतशिष्याः कथयन्ति शास्त्रत्रयेण त्रयाणां दोषा जिताः, एवत्त्रयस्य प्रयासः कृतस्तर्ह्येकेन योगेनेव ते दोषा जिताः स्युस्तत्रैव किमर्थं न कृतः। कथम्? योगेन मनोमालिन्यं दूरीभवति तत्तु तेनैवोक्तं पुनर्व्याकरणेन यदुक्तं तद्योगेन किं न भवति? यादृशं यद्योगे न स्यात्तादृशं त्वन्येन नभवत्येव। कथम्? शब्द ब्रह्मास्य योगिन इष्टमेव हि भवति, योगिनः सिद्धान्तो भवन्ति, यद्वदन्ति तदेव भवति। वैयाकरणो न कोऽपि दृष्टः सिद्धवाणिति। पुनर्वैदि (द्य) केन शरीररोगनिवर्तनं भवति तद्योगेन कथं न भवेत्। योगिनस्तु शरीरममृतं कुर्वन्ति, असंख्ययुगकालपर्यन्तं शरीरं रक्षन्ति च, यदि शरीरं नीरोगं न भवेत्तदा कथं तावत्तिष्ठति। एतादृग्वैदि (द्य) केन किमपि दृष्टं येनैकयुगमपि शरीरं रक्ष्यते। तथा चावधूतशिष्य एव भवतु, तन्नैकेन योगेनैव सर्वसिद्धिर्भवति।

पुनः पुनर्योगः प्रशंस्यते तत्तु प्रशंसनमनया रीत्या, कथम् ? योग-पदार्थस्त्वात्मधर्मः कथं स्वदेहे न भवेत् । स्वतन्त्र एव, मुख्य एव, पुरुषार्थ एव च । कया ? आसनप्राणायामध्यानधारणासमाधय एतेषां मध्ये इन्द्रिय-दमनं सहिष्णुता सत्यमिति सर्वेऽपि चागतास्ते सर्वे स्वत एव भवन्ति । अत आत्मधर्म एव स महाश्रेष्ठः । अन्यत्तु यज्ञादिकर्म द्रव्येण साध्यते । पुनर्बहुपुरुषैर्मिलितैः साध्यते । पुनरन्यतीर्थाटनं व्रतं त्यागस्तपो विरागो ज्ञानमिति यद्यप्यात्मधर्म एव तथापि सुकरत्वात् संसारिभिरपि जनैः क्रियते, यतो बहवो दृष्टिगोचराः । तीर्थयात्रिणो । व्रतकारकास्त्यागिनश्च तस्मादेतेऽपि सम्बन्धधर्मतुल्या एव दृश्यन्ते, न त्वात्मधर्मस्तत्र दृश्यताम् । पाणिनीयव्याकरणाश्रितानां जनानां पण्डितानामग्रेऽपि दृष्टं किमप्येकं प्रमाणं नियतं नास्ति । वैष्णवा यया रीत्या व्याख्यां कुर्वन्ति तां तु स्मार्ताः कथयन्तीयं व्याकरणरीत्या शुद्धा नास्तीति । स्मार्ता अपि यां व्याख्यां कुर्वन्ति तां वैष्णवाः कथयन्तीयं व्याकरणरीत्या शुद्धा नास्तीति । यद्वैकशास्त्रावलम्बिनां बहुधैकधर्मिणां पुरुषाणां मध्येऽपि चैवं भवेत्तर्हि मया तु सिद्धव्याकरणशैवव्याकरणालम्बिना तेषां धर्मतो भिन्नधर्मिणा तत्तत्कथनमेव किं भण्यते, तेषां भेदं दृष्ट्वा हस्यते चेति ।

एक समयकी बात है, सिद्धस्वरूप भर्तृहरि अपनी इच्छासे कापोती वृत्ति-का आश्रय लेकर बाजारकी गलियोंमें दाने बीनकर चबा रहे थे, उसी समय राजा विक्रमादित्यने उन्हें देख लिया । यद्यपि वे राजाके ज्येष्ठ भ्राता ही थे तथापि सिद्धरूप हो जानेके कारण राजाने उन्हें पहचाना नहीं, इसलिये कह दिया—'अहो ! इसकी भी कोई माता है, जिसने ऐसे पुरुषको जन्म दिया, जो अपना पेट पालनेमें भी असमर्थ है ?' यह सुनकर सिद्धने क्या कहा, उसे भी सुनिये—'अहो ! उसकी भी जननीको धिक्कार है, जो समर्थ होते हुए भी परोपकार करनेमें असमर्थ है ।' महान् बुद्धिमान् राजाने जब उनका इस प्रकारका विवेकपूर्ण वचन सुना, तब वे उन परम पुरुषको अपना ज्येष्ठ भ्राता जानकर स्वतः शीघ्र ही सवारीसे उतर पड़े और उनके चरणोंमें विनत हो गये, उस समय श्रीभर्तृहरिने राजाको उपदेश दिया । उसके बाद राजा परोपकार करनेमें प्रवृत्त हो गये, जिससे आगे चलकर वे महान् प्रतापीके रूपमें विख्यात हुए । इसीसे कहा जाता है कि महासिद्ध अकामी, क्रोधहीन और अहंकारजयी होते हैं, तब वे दुर्वचनोंको क्यों नहीं सहन करेंगे । परन्तु परमहंसकी रीतिके अनुसार ये न तो परमहंस हैं और न गृहस्थ ही हैं, ठीक उसी तरह, जिस तरह काक और उल्लू । इन दोनोंमें एक दिन-

में ही देखता है तो दूसरा रातमें ही आँखें खोलता है, परन्तु ये योगी यौगिक परमहंस हैं, ये हंसकी तरह दोनों आँखोंसे देखते हुए मुक्तिरूप मुक्ताफलको ग्रहण करते हैं और शिव एवं शक्ति–दोनोंका एकीकरण करके विचरण करते हैं, अतः वे अवधूत योगी कहलाते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार वे सदा रमते रहते हैं। गृहस्थ क्रोध करनेमें आसक्त होता है और परमहंस क्रोध न करनेमें अनुरक्त रहता है, इसी कारण इन दोनोंकी एक-एक लोकमें अवज्ञा होती है। क्रोधादि करनेपर गृहस्थका परलोक नहीं सिद्ध होता तो क्रोध आदिका सेवन न करनेके कारण परमहंसको इस लोकमें सुख नहीं प्राप्त होता, परन्तु अवधूत योगी परमहंससे श्रेष्ठ और क्रोधके स्तरोंको प्रत्यक्ष देखनेवाले होते हैं, इसलिये वे अलौकिक-का सेवन करनेके कारण इस लोककी भी रक्षा करते हैं और क्रोध आदि न करने-से परलोक भी सिद्ध कर लेते हैं। जो भेद-अभेद और द्वैत-अद्वैतसे परे है, उस परमावस्थामें न कोई यह लोक है और न कोई परलोक ही है—यह उनका परम सिद्धान्त है।

वैदिक और स्मार्त तो कुमारी-कन्याके समान हैं, वह जिसपर चित्त आसक्त हो जाता है, उसीको वरण करती है। अवधूत, परमहंस, शैव, शाक्त अथवा जो कोई भी हो, जब वह मुख्यरूपसे अभिमत नहीं है तो इष्ट किस तरह हो सकता है। यदि मुख्यतया अभिमत होता तो उसके साथ गँठबन्धन हो जाता तथा यदि वह ऊपर लिखितमेंसे कोई होता तो वह उसका वेष धारण कर लेता। पुनः दूसरेका इष्ट दूसरेका पति नहीं हो सकता। यदि होता है तो वह भ्रष्ट ही हो जायगा। जिस तरह कोई भी पुरुष यवन हो जाय तो उसे कौन रोक सकता है। महर्षि पतञ्जलिने तीन शास्त्रोंकी रचना की। योगशास्त्र, व्याकरणशास्त्र और वैदिक या वैद्यक शास्त्र। इस कारण उनके शिष्य प्रशंसा करते हैं—हमारे गुरुदेव-ने तीन शास्त्रोंद्वारा तीन दोषोंको पराजित कर दिया—योगशास्त्रद्वारा मनकी मलिनता, व्याकरण-शास्त्रद्वारा वाणीकी मलिनता और वैदिक या वैद्यक-शास्त्र-द्वारा शरीरकी मलिनता या रुग्णता। इसपर अवधूत-शिष्य कहते हैं—उन्होंने तीन शास्त्रोंद्वारा तीन दोषोंको जीत लिया, यह ठीक है, किंतु उन तीनोंके लिये उन्हें पृथक्-पृथक् प्रयास करना पड़ा। जब एकमात्र योगसे ही वे दोष जीते जा सकते हैं, तब उन्होंने योगसे ही प्रयास क्यों नहीं किया? यथा—योगसे मनोमालिन्य दूर होता है, यह तो उन्होंने हीं कहा है। पुनः व्याकरणद्वारा जो कहा गया है, वह क्या योगद्वारा नहीं होता, अवश्य होता; क्योंकि जो योगद्वारा नहीं होगा, वह दूसरेसे नहीं हो सकता। किस तरह? यथा—इस योगीका शब्दब्रह्म तो इष्ट ही है,

साथ ही योगी सिद्धवाक् होते हैं, वे जो कहते हैं, वही होता है। उधर कोई भी वैयाकरण सिद्धवाक् नहीं देखा गया। पुनः वैदिक अथवा वैद्यक द्वारा जो शरीरके रोगोंका निवारण होता है, वह योगद्वारा क्यों नहीं होगा ? योगी तो शरीरको अमर बना देते हैं और असंख्य युग–कालपर्यन्त शरीरको सुरक्षित रखते हैं। ऐसी दशामें यदि शरीर नीरोग नहीं होता तो उतने समय तक किस तरह स्थित रह सकता। ऐसा तो कोई भी वैदिक या वैद्यक नहीं देखा गया जो एक युगपर्यन्त भी शरीरको सुरक्षित रख सका हो। ऐसा तो अवधूत शिष्य ही होता है, वह केवल योगद्वारा ही सम्पूर्ण सिद्धियोंको हस्तगत कर लेता है।

जो बार-बार योगकी प्रशंसा की जा रही है, उस प्रशंसाका ढंग यह है—योग पदार्थ तो आत्मधर्म ही है, फिर वह अपने शरीरमें क्यों नहीं होगा। वह स्वतन्त्र है, मुख्य है और पुरुषार्थरूप है। किस तरह–बतलाते हैं—आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि आदि जो योगके अङ्ग हैं, इनमें इन्द्रियदमन, सहिष्णुता और सत्य आदि सभी आ जाते हैं, वे सभी स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। अतः वह आत्मधर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। दूसरे जो यज्ञादि कर्म हैं, वे द्रव्यसे सिद्ध हो जाते हैं तथा बहुतसे पुरुष मिलकर सिद्ध कर लेते हैं। पुनः दूसरे जो तीर्थाटन, व्रत त्याग, तप, विराग और ज्ञान आदि हैं, वे यद्यपि आत्मधर्म ही हैं, तथापि सुकर होनेके कारण संसारी लोग कर लेते हैं, जैसा अधिकतर लोग प्रत्यक्ष देखे जा रहे हैं। इसलिये जो तीर्थयात्री, व्रतकर्ता और त्यागी हैं, वे भी सम्बन्धधर्मके समान ही देखे जाते हैं, उनमें आत्मधर्म नहीं दिखायी पड़ता। पाणिनीय व्याकरणका आश्रय लेनेवाले पण्डितजनोंके समक्ष कोई भी एक प्रमाण नियतरूपसे नहीं देखा गया। वैष्णव जिस ढंगसे व्याख्या करते हैं, उसे स्मार्त कहते हैं कि यह व्याकरण के अनुसार शुद्ध नहीं है तथा स्मार्त भी जो व्याख्या करते हैं, उसे वैष्णव कहते हैं कि यह व्याकरणके अनुसार शुद्ध नहीं है। जब बहुधा एक शास्त्रावलम्बी तथा समानधर्मी पुरुषों के बीच ऐसी बात है तो मैं तो उनके धर्मसे भिन्न कर्मवाला तथा सिद्ध व्याकरण एवं शैवव्याकरणावलम्बी हूँ, अतः उस तरहके कथनको किस प्रकार आदर दे सकता हूँ, अपितु उनके भेदको देखकर उपहास ही करूँगा।

अर्जुनमिश्रकृतभारतटीकायां—

अर्जुनमिश्रकृत भारत-टीका में कहा गया है—

यान्युज्जहार माहेशाद्व्यासो व्याकरणार्णवात्।
तानि किं पदरत्नानि मान्ति पाणिनिगोष्पदे॥

व्यासने महेश्वरसम्बन्धी व्याकरण-समुद्रसे जिन पद-रत्नोंको निकाला है, वे क्या पाणिनि-व्याकरणरूप गो-खुरसे बने गड्ढेमें अँट सकते हैं ?

भर्तृहरिवाक्यपदीय में—

> शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते ।
> समारम्भस्तु भावानामनादि ब्रह्म शाश्वतम् ॥
> (२ । २३३)

शास्त्रोंमें प्रक्रिया-भेदसे अविद्याका ही विशेषरूपसे वर्णन किया गया है, वास्तवमें भावोंका समारम्भ तो अनादि-शाश्वत ब्रह्म है ।

योग-विहित आत्मधर्मत्वका निरूपण

नीत्युपाये यथा राज्ञो धर्माः शौर्यं तेजो बुद्धिर्भाग्यं स्वातन्त्र्यशक्तिरिति, एभ्यो यादृशी राज्यकार्येषु सिद्धिर्भवति, यशश्च भवति, तथा मन्त्रिबुद्धितः सेनासंपत्तिः शत्रूणां द्रव्यसमाधानमित्यादेः सम्बन्धधर्मान्न भवति । एवं शृङ्गारेऽपि तारुण्येन, पराक्रमेण, रूपेण च यादृशं सुखं स्त्रीजनानां प्रीतिश्च भवति तादृगनेकभूषणेन द्रव्येण हर्म्यादिसामग्रीविशेषानेकगुणैरैश्वर्येण बुद्धिकुलीनतावेषरचनारागरचनादिभिश्चेत्यादिसम्बन्धधर्मेण न भवति । यद्यपि सर्वेऽपि सम्बन्धधर्मा मिलिता अपि कार्यकरा भवन्ति इति विशेषः । एवं च योग एव श्रेष्ठ आत्मधर्मस्तद्वन्तं मुक्तिरङ्गीकरोति । यथा पूर्वोक्तशौर्यादिः श्रेष्ठ आत्मधर्मस्तद्वन्तं राजानं पृथ्वी अङ्गीकरोति, यथैव च पूर्वोक्ततारुण्यादिः श्रेष्ठ आत्मधर्मस्तद्वन्तं स्त्रीजनः शृङ्गारेऽङ्गीकरोति ।

नीतिमार्गमें शौर्य, तेज, बुद्धि, भाग्य और स्वतन्त्रताशक्ति—ये राजाओंके धर्म हैं । इनसे राज्य-कार्योंमें जैसी सिद्धि और जैसा यश प्राप्त होता है, वैसा मन्त्रीकी बुद्धि, सैन्यदल और शत्रुओंके द्रव्य-हरण आदि सम्बन्धधर्मोंसे नहीं होता, इसी प्रकार शृङ्गारपक्षमें भी युवावस्था, पराक्रम और सौन्दर्यसे स्त्रियोंको जैसा सुख और जैसी प्रीति होती है, वैसी अनेकों आभूषण, धन, अट्टालिका आदि सामग्रीविशेष गुणकी अधिकता, ऐश्वर्य, बुद्धि, उत्तम कुलमें जन्म, तथा साज-शृङ्गार और राग-रचना आदि सम्बन्धधर्मसे नहीं होती, यद्यपि सभी सम्बन्ध-धर्म मिलकर ही कार्यपूर्ति करते हैं । इस प्रकार योग ही श्रेष्ठ आत्मधर्म है, अतः उस धर्मसे युक्त पुरुष अर्थात् योगी को मुक्ति उसी प्रकार स्वीकार करती है—प्राप्त होती है, जिस प्रकार उपर्युक्त शौर्य आदि राजाओं का श्रेष्ठ आत्मधर्म है, इसलिये

उस धर्मसे युक्त राजाको पृथ्वी वरण करती है तथा जिस प्रकार श्रृङ्गारपक्षमें उपर्युक्त तारुण्य आदि श्रेष्ठ आत्मधर्म हैं, उसी कारण उससे युक्त पुरुषको स्त्रियाँ स्वीकार करती हैं।

केचिन्नारायणात्सर्वोत्पत्तिं कथयन्ति। सा च तदधिकारिणामुपासकानामेवार्थं न तु मुख्यतया। तदुक्तअथर्वशिर उपनिषदि—

कुछ लोग नारायणसे सबकी उत्पत्ति बतलाते हैं, परन्तु वह उन्हींके अधिकारी उपासकोंके लिये है, मुख्यरूपसे नहीं है। अथर्वशिर-उपनिषद्में कहा गया है—

"अक्षरात्संजायते कालः कालाद्व्यापक उच्यते। व्यापको हि भगवान् रुद्रो भोगायमानो यदा शेते रुद्रस्तदा संहार्यते प्रजाः। उच्छ्वसिते तमो भवति तमस आपोऽप्स्वङ्गुल्या मथिते मथितं शिशिरे शिशिरं मथ्यमानं फेनो भवति फेनादण्डं भवत्यण्डाद् ब्रह्मा भवति ब्रह्मणो वायुर्वायोरोंकार ॐकारात्साविति सावित्र्या गायत्री गायत्र्या लोका भवन्ति।" (६)

अक्षर-ब्रह्मसे काल उत्पन्न होता है, कालसे व्यापककी उत्पत्ति बतायी गयी है और व्यापक भगवान् रुद्र हैं। वे भोगका आनन्द लेते हुए जब शयन करते हैं, तब प्रजाका संहार हो जाता है। उनके उच्छ्वास लेनेपर तमकी उत्पत्ति होती है, तमसे जल, जलमें अंगुलीसे मन्थन करनेपर शीतलता और शीतलताका मन्थन करनेपर फेन प्रकट होता है, फेनसे अण्ड निकलता है, अण्डसे ब्रह्मा प्रकट होते हैं तथा ब्रह्मासे वायु, वायुसे ओंकार, ओंकार से सावित्री, सावित्रीसे गायत्री और गायत्रीसे सारे लोक उत्पन्न होते हैं।

अत्र तु विष्णोर्नामगणनापि नास्ति। कथम्? स तु रुद्रस्यांशावतारगणनेऽपि तदवान्तरत्वेनोक्त इति। विशेषरीतिस्तु शिवरहस्ये सविस्तरं लिखिता—

इस क्रममें तो विष्णुके नामकी गणना भी नहीं है; ऐसा क्यों? रुद्रके अंशावतारके परिगणनमें विष्णु उनके अवान्तररूपसे बतलाये जा चुके हैं। इसकी विशेषरीति तो शिवरहस्यमें विस्तारपूर्वक लिखी गयी है—

सर्ववेदानां सर्वसंसारिणामपि च गुरुर्नाथ एव सर्वशास्त्रप्रसिद्धोऽत एव तन्त्रोक्तेऽपि गुरुकवचे गुरुमण्डलनिरूपणे मुख्यतया नाथस्यैव गुरुत्वमुक्तं श्रीनाथादिगुरुत्रयमित्यादिना।

यह सभी शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है कि सभी देवताओं तथा समस्त संसारियों-(प्राणियों) के भी गुरु नाथ ही हैं, इसलिये तन्त्रवर्णित गुरुकवचमें गुरुमण्डलका निरूपण करते समय "श्रीनाथादिगुरुत्रयम्" आदि श्लोकोंद्वारा नाथके ही गुरुत्वका मुख्य रूपसे वर्णन किया गया है।

श्रीनाथादिगुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयं भैरवं
सिद्धौघं बटुकत्रयं पदयुगं दूतिक्रमं शोभनम्।
वीरेशाष्टचतुष्टषष्टिनवकं वीरावलीपञ्चकं
श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजसहितं वन्दे गुरोर्मण्डलम् ॥

मैं श्रीनाथ आदि तीन गुरु, गणपति, तीनपीठ, भैरव, सिद्धोंमें तीन वटुक, युगपद, सुन्दर दूतिक्रम, आठ, चौसठ और नौ वीरेश, पाँच वीरावली और श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजसहित गुरुमण्डलकी वन्दना करता हूँ।

महेश्वरसंहितामें—

सत्यं केचित्प्रशंसन्ति तपः शौचमथापरे।
क्षमां केचित्प्रशंसन्ति तथैव शममार्जवम् ॥
केचिद्दानं प्रशंसन्ति पितृकर्म तथापरे।
केचित्कर्म प्रशंसन्ति केचिद्वैराग्यमुत्तमम् ॥
केचिद्गृहस्थकर्माणि प्रशंसन्ति विचक्षणाः।
अग्निहोत्रादिकं कर्म तथा केचित्परं विदुः ॥ (१।४-६)

कुछ लोग सत्यकी प्रशंसा करते हैं तो दूसरे तपस्या और शौच (पवित्रता) की प्रशंसा करते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग क्षमा, मनोनिग्रह और सरलताको अधिक आदर देते हैं। कुछ लोग दानको उत्तम बतलाते हैं, तो दूसरे पितृकर्मको तथा कुछ लोग कर्म और कुछ लोग उत्तम वैराग्यको श्रेष्ठ कहते हैं। कुछ विद्वान् लोग गृहस्थकर्मको महत्वपूर्ण बतलाते हैं तो कुछ लोग अग्निहोत्रादि कर्मको ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

एवमन्ये तु संचिन्त्य यथामति यथाश्रुतम् ॥
निरीश्वरमिदं प्राहुः सेश्वरं च तथापरे।
वदन्ति त्रिविधा भेदैः सदयुक्त्या स्थितिकारकाः ॥
एते चान्ये च मुनयः संज्ञाभेदात्पृथग्विधाः।

शास्त्रेषु कथिता ह्येतेलोकव्यामोहकारकाः ॥
एतद्विवादशीलानां मतं वक्तुं न शक्यते ।
भ्रमन्त्यस्मिञ्जनाः सर्वे मुक्तिमार्गबहिष्कृताः ॥
आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रामृतं परम् ॥
यस्मिञ्ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम् ।
अस्मिन्परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्त्रभाषितम् ॥
योगशास्त्रमिदं गोप्यमस्माभिः परिभावितम् ।
(१।१२-१६)

इसी तरह दूसरे लोग भी अपनी बुद्धि और शास्त्रज्ञानके अनुसार विचार करके अनेक बातें कहा करते हैं। इस जगत्को कुछ लोग ईश्वररहित तो दूसरे लोग इसे ईश्वरसहित बतलाते हैं और कुछ दृढ़तापूर्वक स्थिर रहनेवाले लोग उत्तम युक्ति (प्रमाण) देकर इसे अनेकों भेदोंवाला कहते हैं। इस प्रकार मुनियों ने शास्त्रोंमें संज्ञाभेदसे ऐसे अनेक प्रकारके धर्मोंका वर्णन किया है, परन्तु वे (प्रमाण) लोगोंको भ्रममें डालनेवाले हैं। ऐसे विवादवालोंके मतका वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि इससे सभी लोग मुक्तिमार्गसे बहिष्कृत (वञ्चित) होकर इस जगत्में भ्रमण करते रहते हैं। सभी शास्त्रोंका अवलोकन और बार-बार विचार करने के बाद यही एक बात सुनिश्चित हो पायी कि योगशास्त्र परम अमृतस्वरूप है; क्योंकि इसे जानने के बाद यह सब कुछ निश्चितरूपसे ज्ञात हो जाता है, इसलिये इसीमें परिश्रम करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंद्वारा वर्णित मत से अपना कोई प्रयोजन नहीं रखना चाहिये। हमलोगोंद्वारा उत्पादित योगशास्त्र परम गोपनीय है।

आचारस्य संस्कृतशब्दस्य प्रबन्धकरणस्य शुद्धशब्दस्य चेत्यादि सर्वपदार्थानां निषेधकरणेनैवंवादिभिः कदाचिदपि न ज्ञायते यदेतेषां मते त्वाचारो नास्ति, संस्कृतं शास्त्रं च नास्ति, प्रबन्धो वा नास्ति, शुद्धशब्द-स्योच्चारणं नास्ति इति। किन्त्वस्माकं मते त्वाचार ईदृशो वर्तते यस्तु प्राणान्तेऽपि न त्यज्यत आचारः। अन्येषां तु मत एवमपि कथ्यते शरीरार्थं कदापि काले ह्यधर्ममपि ग्राह्यम्। किमर्थम् ? यदि शरीरमरोगं भविष्यति तदा पुनरपि तेन धर्मं संपाद्य तमधर्मं निवृत्य पुनर्धर्मं करिष्यते येन सर्वश्रेयो भविष्यतीति। अस्माकं मते तु यदा कष्टे विपत्तौ वा शरीरार्थं-

मधर्मं गृह्णाति तदायं कीदृशो धर्मो यः कष्टे त्यजते धर्मस्तु स एव यः प्राणान्तेऽपि न त्यक्तो भवेदिति हेतोर्योगिनो योग एव सर्वदा तिष्ठन्ति क्षणमपि न योगं त्यजन्ति । अत्र योगेन योगाभ्यासो ग्राह्य इति । तत्कर्मैव कर्माचारं यन्न त्यज्यते ।

आचार, संस्कृतशब्द, प्रबन्धकरण और शुद्ध शब्द आदि सम्पूर्ण पदार्थोंका निषेध करनेके कारण वादियोंको ऐसा कभी भी नहीं समझना चाहिये कि इनके मतमें आचार नहीं है, संस्कृत शब्द नहीं है, प्रबन्ध नहीं है अथवा शुद्ध शब्दका उच्चारण नहीं है, किंतु हमलोगोंके मतमें ऐसा आचार है कि प्राणान्त होनेपर भी जिसका त्याग नहीं किया जाता । दूसरोंके मतमें ऐसा भी कहा जाता है कि शरीररक्षाके लिये समय पड़नेपर अधर्म भी ग्रहण किया जा सकता है । इसका अभिप्राय यह है कि यदि शरीर नीरोग हो जायगा तो शरीरसे पुनः धर्मका सम्पादन करके उस अधर्मका निवारण कर देंगे और पुनः धर्मका आचरण करेंगे, जिससे सब कल्याण हो जायेगा । हमारे मतमें तो जब कष्ट या विपत्तिके आनेपर शरीरकी रक्षाके लिये अधर्मको ग्रहण कर लेना है, तब वह धर्म ही कैसा, जिसे कष्ट पड़ने पर त्याग दिया जाय । धर्म तो वही है, जिसका प्राणान्त होनेपर भी त्याग नहीं होता । इसी कारण योगी सदा योगमें ही स्थित रहते हैं । वे क्षणभर भी योगका त्याग नहीं करते । यहाँ योग शब्दसे योगाभ्यासका ग्रहण करना चाहिये । वह कर्म ही कर्माचार है, जिसका त्याग नहीं होता ।

वेदेऽपि लिखितं यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति अहरहः सन्ध्यामुपासीतेत्यादि । पुनः संस्कृतशब्दरीतिस्त्वन्यैः पठनादिश्रमेणाधिगम्यते । तैस्तु योगिनः सिद्धा भूत्वा स्वत एव संस्कृतरीतिं रचयन्ति । पुनः प्रबन्ध इति । प्रबन्धस्तु य एतादृशो यद्वाक्यं मेरुश्चलति तथापि तन्न चलति वाक्यम् । पुनः शुद्धमिति शुद्धमेतादृशं यच्छुद्धाशुद्धैकीकरणं तन्मोक्षरूपम् । शुद्धमेव स्यात्तच्च कदापि काले नाशुद्धं भवेदित्येतद्रीत्या ह्याचारादयः पदार्था एतैर्योगिभिरेतादृशाः क्रियन्ते यादृशा अन्यैः कर्तुं न शक्यन्ते परं त्वयं सिद्धान्तो नास्तीति । आचारो ह्यनाचार इति संस्कृतमसंस्कृतमिति । प्रबन्धोऽप्रबन्ध इति । शुद्धमशुद्धमिति । द्वन्द्वमिलनेनैव सर्वं सिध्यति न त्वेकेनेति । एकेन तु ब्रह्मादयोऽपि किमपि कर्तुं न शक्नुवन्ति तच्च कदापि काले न भवत्येवेति । एतेन वारंवारमस्माभिरेवं प्रदर्श्यते । अव्यक्तलिंग एव अघटितपदार्थ एव अत्याश्रम एव निर्मलो भवति

नखित्वरकलिंगपदार्थो निश्चलः क्षणमपि दृश्यते। यद्वारंवारं कथनेना-व्यक्तलिंगस्यात्याश्रमस्येदंकरणं श्रो गरस्त्वैश्वर्येण मत्ता भूता एकदा लिखनेन जानन्त्यपरेषां मत एते यदा न भवन्त्येवेति तन्नास्ति सर्वस्मा-दप्येतेऽधिका भवन्ति निषेधकरणे न तु अव्यक्तलिंगे तात्पर्यमिति सिद्धं क्रियत इति। प्रथममुक्तेन योगेन योगाभ्यास उक्त इति। तदा कोऽपि जानीयात्, योगाभ्यासो योगश्चेति किमदर्थद्वयमायातीति तत्र कथ्यते-योगस्तु जीवात्मपरमात्मनोरैक्यमेव योगाभ्यासस्तु तस्य योगस्य प्राप्त्यर्थं मानसप्राणायामाद्यभ्यासकरणमिति। पुनः प्रथमं यावज्जीवमग्निहोत्रीत्युक्तं तत्वम्यशास्त्रस्यापि रीतिरुक्ता नत्वेतदग्निहोत्रादि कर्म योगाभ्यासरूपं कर्म चैकमिति ज्ञेयं तत्तु निष्कर्म इदं तु महोत्तममिति। अत एव श्रीगोरक्षनाथेनोक्तं गोरक्षोपनिषदि—आदिब्राह्मण इति। को वा ब्राह्मण इति। ब्रह्म जानाति स ब्राह्मण इति। वैष्णवा ब्राह्मणाश्च रामकृष्णा-दयोऽपीतरं ब्रह्म। एवं न जीवात्मापि चानुक्रमानुक्रमतो जीवो ब्रह्मेति कथनं भवतीति। एतया रीत्या अंशांशब्रह्म भजन्तस्ते मायाशबलब्रह्मपर्याये नारायणे समन्वयं व्रजन्ति। पुनर्वैदिकाः परमहंसाश्च ये ते मायाशबलब्रह्म भजन्तो निर्गुणब्रह्मणि समन्वयं व्रजन्तीत्येवं भवतु मा भवतु परन्त्वेवं ते कथयन्ति। महासिद्धास्तु निर्गुणं भजन्तो निर्गुणातीते पूर्णे नाथे समन्वयं व्रजन्ति।

अथो त्रयमप्येतत्केन मार्गेण व्रजन्ति, तत्राह–वैष्णवाः पुराणपाञ्च-रात्राद्यनुसारिणस्तदुक्तोपासनेन कर्मणा। वैदिकाश्च परमहंसाः स्थूलवेदा-नुसारिणो यज्ञादिकर्मकरणानन्तरत्यागज्ञानेन। महासिद्धाः सूक्ष्मवेदानु-सारिणो योगकर्मणेति। एवं च यदा वैष्णवास्तु पुराणपाञ्चरात्रादीनां वेदमूलकत्वाद् वैदिकब्राह्मणान्तर्भूता अतस्तेषां कथने किं प्रयोजनमथ च वैदिका ब्राह्मणाः परमहंसास्ते स्थूलवेदानुसारिणो मायाशबलं ब्रह्मोपास्य निर्गुणं ब्रह्म जानन्ति यतो हेतोर्ब्रह्म जानन्तीति ब्राह्मणा इति। पुनर्महा-सिद्धाः सूक्ष्मवेदानुसारिणो निर्गुणब्रह्मभजनेन पूर्णं ब्रह्म जानन्ति यत एते आदिब्राह्मणा इति। ब्राह्मणा ब्राह्मणा वैदिकाः वैदिकाः कथ्यन्ते। यदेते किन्तु ब्राह्मणा वैदिका न वर्तन्त एते तु महाब्राह्मणा महावैदिकाः। अथ चैवं रीत्यास्माभिः कथ्यते तद्यथार्थमेव ज्ञेयं न त्वेते ज्ञातिब्राह्मणा ब्रह्म जानन्ति यतो ब्राह्मणा इति। एकदण्डिनः परमहंसास्त्रिदण्डिनश्च परमहंसाः क्रियावद्ब्रह्मेति दृष्ट्वा एकयैव दृष्ट्या पश्यन्ति एकदण्डिनो निष्क्रियं

ब्रह्मत्यैकयैव दृष्ट्या पश्यन्ति । यदा एकयैव दृष्ट्या । एकयैव व्यवस्थया तु बहुवारमुक्तं चञ्चलत्वमेव तिष्ठति न तु निश्चलत्वं याति तदा मोक्ष भाक्त्वं न भवेत्तेषां च बन्धनमेव वर्त्तेत तदा गर्भो नरकश्च कथम् — ।

वेदमें भी इसका उल्लेख है कि जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करना चाहिये और प्रतिदिन संध्योपासन करना आवश्यक है, आदि । पुनः संस्कृतशब्दकी जिस रीतिको अन्य लोग पठन आदिके श्रमसे अधिगत करते हैं, उस (संस्कृति रीति) को योगी सिद्ध होकर स्वतः ही रचना करते हैं । पुनः प्रबन्ध—प्रबन्ध तो उनका ऐसा होता है कि वे जो वाक्य कहते हैं, उनका वह वाक्य ऐसा दृढ़ होता है कि मेरु भले ही चलायमान हो जाय, परन्तु वह अटल रहता है । पुनः शुद्ध— शुद्ध ऐसा होता है कि शुद्ध और अशुद्धका एकीकरण कर देना मोक्षरूप हो जाता है । जो शुद्ध है, वह किसी भी समय अशुद्ध न हो— इस रीति से ये योगी आचार आदि पदार्थोंका आचरण इस प्रकार करते हैं, जिस प्रकार दूसरे लोग कर ही नहीं सकते, परन्तु इसे सिद्धान्त नहीं मान लेना चाहिये । आचार-अनाचार, संस्कृत असंस्कृत, प्रबन्ध-अप्रबन्ध, शुद्ध-अशुद्ध— इस प्रकार दोनोंके मिलनेसे ही सबकी सिद्धि होती है, केवल एकसे ही नहीं । अकेले तो ब्रह्मा आदि भी कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं हैं और वह किसी भी कालमें नहीं हो सकता । इसीलिये हमलोग बार–बार ऐसा प्रदर्शित करते रहते हैं कि अव्यक्तलिंग ही, अघटितपदार्थ ही और अत्याश्रम ही निश्चल होता है, दूसरा कल्पित पदार्थ क्षणभर भी निश्चल नहीं देखा जाता । बारबार कहनेसे अव्यक्तलिंग और अत्याश्रमका जो यह कर्म है, वह सिद्ध करता है कि श्रोतागण ऐश्वर्यसे प्रमत्त होकर एक बारके लिख देनेसे जान लेते हैं कि दूसरोंके मतमें ये हैं ही नहीं, ऐसी बात नहीं है, अपितु ये सबसे अधिक हैं, किंतु निषेध करनेमें हैं, अव्यक्तलिंग में नहीं–ऐसा तात्पर्य है । पूर्वमें योगके कह देनेसे योगाभ्यास भी कह दिया गया । तब कोई भी जानना चाहेगा कि योगाभ्यास और योग किस प्रकार दो अर्थके वाचक हैं, इसपर कहते हैं— जीवात्मा और परमात्माका एकीकरण ही योग है और उस योगकी प्राप्तिके निमित्त मानस प्राणायाम आदि अभ्यास करना योगाभ्यास है । पुनः पहले जो जीवनपर्यन्त अग्निहोत्री होना चाहिये, यह कहा गया, उससे तो अन्य शास्त्रकी भी रीति कह दी गयी, परन्तु इस अग्निहोत्रादि कर्म और योगाभ्यासरूप कर्मको एक नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वह निष्कर्म है और यह परम उत्तम है । इसी कारण श्रीगोरक्षनाथने गोरक्षोपनिषद् में कहा है - "आदिब्राह्मण" आदि । ब्राह्मण कौन है ? जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्राह्मण है । वैष्णव ब्राह्मण और वदिक

राम-कृष्ण आदि भी ब्रह्म हैं। इसी प्रकार जीवात्माके लिये भी अनुक्रमानुसार "जीव ब्रह्म है" ऐसा कथन सम्भव होता है। इस रीतिसे जो अंशांश ब्रह्मका भजन करते हैं, वे मायाशबल ब्रह्मके पर्यायवाची नारायणमें उसका समन्वय करते हैं। पुनः वैदिक और परमहंस मायाशबल ब्रह्मका भजन करते हैं, उसका निर्गुण ब्रह्ममें समन्वय करते हैं। भले ही ऐसा हो या न हो, परन्तु वे ऐसा कहते हैं। महासिद्ध निर्गुणका भजन करते हुए उसका निर्गुणातीत पूर्ण नाथमें समन्वय करते हैं।

अब ये तीनों किस मार्गसे जाते हैं, इस विषयमें बतलाते हैं—वैष्णव पुराण और पाञ्चरात्र आदिके अनुयायी हैं, अतः वे उदुक्त उपासना-कर्मके द्वारा, वैदिक और परमहंस स्थूलवेद के अनुयायी हैं, अतः वे यज्ञादि कर्मोंके करनेके पश्चात् त्याग और ज्ञानद्वारा तथा महासिद्ध सूक्ष्मवेदका अनुसरण करनेवाले हैं, अतः वे योगकर्मके द्वारा जाते हैं। इस प्रकार पुराण और पाञ्चरात्र आदिके वेदमूलक होनेके कारण जब वैष्णगण वैदिक ब्राह्मणों के अन्तर्भूत हो गये, तब उनके विषय में कुछ कहना निष्प्रयोजन है। अब बचे वैदिक ब्राह्मण और परमहंस, वे स्थूल-वेदानुसार मायाशबल ब्रह्मकी उपासना करके निर्गुण ब्रह्मको जान लेते हैं। वे ब्रह्मको जानते हैं, इसलिये ब्राह्मण हैं। पुनः सूक्ष्मवेदानुसारी महासिद्ध निर्गुण ब्रह्म का भजन करनेसे पूर्ण ब्रह्मको जानते हैं, इस कारण ये आदिब्राह्मण हैं। ब्राह्मण, ब्राह्मण और वैदिक, वैदिक कहलाते हैं, किंतु ये साधारण ब्राह्मण और वैदिक नहीं हैं, अपितु ये महाब्राह्मण और महावैदिक हैं। अब इस रीतिके अनुसार हम-लोग जो कहते हैं, उसे यथार्थ ही जानना चाहिये। ये जातिमात्रवाले ब्राह्मण ब्रह्मको नहीं जानते, अतः साधारण ब्राह्मण हैं। एकदण्डी परमहंस और त्रिदण्डी परमहंस ब्रह्मको क्रियावान् देखकर एक ही दृष्टिसे देखते हैं। एकदण्डीके मतमें ब्रह्म निष्क्रिय है, अतः वे एक ही दृष्टिसे देखते हैं। जब एक ही दृष्टिसे अथवा एक ही व्यवस्थासे ऐसा अनेकों बार कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि उनमें चञ्चलता ही है, निश्चलता नहीं है। ऐसी स्थितिमें वे मोक्षभागी नहीं हो सकते, अपितु उनके लिये बन्धन ही वर्तमान रहता है, तब गर्भवास एवं नरकवाससे किस तरह छुटकारा मिल सकता है।

समापन

卐

नाथनिरंजन की आरती

नाथनिरंजन आरती साजै ।
गुर के सबदूं झालरि बाजै ।। टेक ।।
अनहदनाद गगन में गाजै ।
परम जोति तहां आप बिराजै ।। १ ।।
दीपक जोति अषंडत बाती ।
परम जोति जगै दिन राती ।। २ ।।
सकल भवन उजियारा होई ।
देव निरंजन और न कोई ।। ३ ।।
अनत कला जाकै पार न पावै ।
संष मृदंग धुनि बेनि बजावै ।। ४ ।।
स्वाति बूंद लै कलस बंदाऊँ ।
निरति सुरति ले पहुप चढ़ाऊँ ।। ५ ।।
निज तत नांव अमूरति मूरति ।
सब देवां सिरि उदबुदि सूरति ।। ६ ।।
आदिनाथ नाती मछेन्द्रनाथ पूता ।
आरती करै गोरष अवधूता ।। ७ ।।

[गोरखबानी पद–६२]

